परम्परा

[बाईस कहानियाँ]

'अज्ञेय'

लेखक की अन्य रचनाएँ

कविता

भग्नदूत
चिन्ता

कहानी

विपथगा

उपन्यास

शेखर : एक जीवनी

प्रथम भाग—उत्थान
द्वितीय भाग—संघर्ष
तृतीय भाग—निष्पत्ति (छप रहा है)

आलोचना

त्रिशंकु : संक्रान्तिकाल में साहित्य

संकलित ग्रन्थ

तारसप्तक (कविता-संग्रह)
आधुनिक हिन्दी साहित्य (आलोचनात्मक निबन्ध)

: प्राप्ति-स्थान :

सरस्वती प्रेस,

पोस्ट बॉक्स २२, बनारस ।

गंगाजली को

सूची

ईश्वर ने सृष्टि की।

सब ओर निराकार शून्य था, और अनन्त आकाश में अन्धकार छाया हुआ था। ईश्वर ने कहा—प्रकाश हो! और प्रकाश हो गया। उसके आलोक में ईश्वर ने आकाश के असंख्य टुकड़े किये और प्रत्येक में एक-एक तारा जड़ दिया। तब उसने सौर-मण्डल बनाया, पृथ्वी बनायी। और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

तब उसने वनस्पति-पौधे, झाड़-झंखाड़, फल-फूल, लता-बेलें उगाईं; और उनपर मँडराने को भौंरे और तितलियाँ, गाने को झींगुर भी बनाये।

तब उसने पशु-पक्षी भी बनाये और उसे जान पड़ा कि उसकी रचना अच्छी है।

लेकिन उसे शान्ति नहीं हुई। तब उसने जीवन में वैचित्र्य लाने के लिए दिन और रात, आँधी-पानी, बादल-मेंह, धूप-छाँह इत्यादि बनाये; और फिर क़ीड़े-मकोड़े, मकड़ी, मच्छर, बर्रें, बिच्छू और अन्त में साँप भी बनाये।

लेकिन फिर भी उसे सन्तोष नहीं हुआ। तब उसने ज्ञान का नेत्र खोलकर सुदूर भविष्य में देखा। अन्धकार में, पृथ्वी और सौर-लोक पर छायी हुई प्राणहीन धुन्ध में कहीं एक हलचल, फिर उस हलचल में धीरे-धीरे एक आकार, एक शरीर जिसमें असाधारण कुछ नहीं है, लेकिन फिर भी सामर्थ्य है, एक आत्मा जो निर्मित होकर भी अपने आकार के भीतर बँधती नहीं, बढ़ती ही जाती है, एक प्राणी जो जितनी बार धूल को छूता है, नया ही होकर, अधिक प्राणवान् होकर उठ खड़ा होता है...

ईश्वर ने जान लिया कि भविष्य का प्राणी यही मानव है। तब उसने पृथ्वी पर से धुन्ध को चीरकर एक मुट्ठी धूल उठाई और उसे अपने हृदय के पास ले जाकर उसमें अपने विराट् आत्मा की एक साँस फूँक दी—मानव की सृष्टि हो गई।

ईश्वर ने कहा—जाओ, मेरी रचना के महाप्राण नायक, सृष्टि के अवतंस!

लेकिन कृतित्व का सुख ईश्वर को तब भी नहीं प्राप्त हुआ, उसमें का कलाकार अतृप्त ही रह गया।

क्योंकि पृथ्वी खड़ी रही, तारे खड़े रहे। सूर्य प्रकाशवान् नहीं हुआ, क्योंकि उसकी किरणें बाहर फूट निकलने से रह गईं। उस विराट् सुन्दर विश्व में गति नहीं आई।

दूर पड़ा हुआ आदिम साँप हँसता रहा। वह जानता था कि क्यों सृष्टि नहीं चलती। और वह इस ज्ञान को खूब सँभालकर अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हुआ था।

एक बार फिर ईश्वर ने ज्ञान का नेत्र खोला और फिर मानव के दो बूँद आँसू लेकर स्त्री की रचना की।

मानव ने चुपचाप उस देन को स्वीकार कर लिया, सन्तुष्ट वह पहले ही था, अब सन्तोष द्विगुणित हो गया। उस शान्त जीवन में अब भी कोई अपूर्ति न आई और सृष्टि अब भी न चली।

और वह चिरन्तन साँप ज्ञान को अपनी गुंजलक में लपेटे बैठा हँसता रहा।

(२)

साँप ने मनुष्य से कहा—मूर्ख, अपने जीवन से सन्तुष्ट मत हो! अभी बहुत कुछ है जो तूने नहीं पाया, नहीं देखा, नहीं जाना! यह देख, ज्ञान मेरे पास है। इसी के कारण तो मैं ईश्वर का समकक्ष हूँ!

लेकिन मानव ने एक बार अनमना-सा उसकी ओर देखा और फिर स्त्री के केशों से अपना मुँह ढक लिया। उसे कोई कौतूहल नहीं था, वह शान्त था।

बहुत देर तक ऐसे ही रहा। प्रकाश होता और मिट जाता, पुरुष और स्त्री प्रकाश में मुग्ध दृष्टि से एक दूसरे को देखते रहते, और अन्धकार में लिपटकर सो रहते।

और ईश्वर अदृष्ट ही रहता और साँप हँसता ही जाता।

तब एक दिन जब प्रकाश हुआ, तो स्त्री ने आँखें नीची कर लीं, पुरुष की ओर नहीं देखा। पुरुष ने आँख मिलाने की कोशिश की, तो पाया कि स्त्री केवल उसी की ओर न देख रही हो, ऐसा नहीं है, वह किसी की ओर भी नहीं देख रही है, उसकी दृष्टि मानो अन्तर्मुखी हो गई है, अपने भीतर ही

कुछ देख रही है और उसी दर्शन में एक अनिर्वचनीय तन्मयता पा रही है...
जब अन्धकार हुआ, तब भी स्त्री उसी तद्गत भाव में लेट गई, पुरुष को न देखती हुई, बल्कि उसकी ओर से विमुख, उसे कुछ परे रखती हुई...

पुरुष उठ बैठा। नेत्र मूँदकर वह ईश्वर से प्रार्थना करने लगा। उसके पास शब्द नहीं थे, भाव नहीं थे, दीक्षा नहीं थी। लेकिन शब्दों से, भावों से, प्रणाली के ज्ञान से परे जो प्रार्थना है, जो संबन्ध के सूत्र पर आश्रित है, वही प्रार्थना उसमें से फूट निकलने लगी...

लेकिन विश्व फिर भी वैसा ही निश्चल पड़ा रहा, गति उसमें नहीं आई।

स्त्री रोने लगी। उसके भीतर कहीं दर्द की एक हूक उठी, वह पुकारकर कहने लगी—क्या होता है मुझे, क्या होता है मुझे! मैं बिखर रही हूँ, मैं मिट्टी में मिल जाऊँगी...

पुरुष अपनी निस्सहायता में कुछ भी नहीं कर सका, उसकी प्रार्थना और भी आतुर, और विकल, और भी उत्सर्गमयी हो गई और जब वह स्त्री का दुःख नहीं देख सका, तब उसने नेत्र खूब ज़ोर से मींच लिये...

निशीथ के निविड़ अन्धकार में स्त्री ने पुकारकर कहा—ओ मेरे ईश्वर—ओ मेरे पुरुष—यह देखो!

पुरुष ने पास जाकर देखा, टटोला और क्षण-भर स्तब्ध रह गया। उसकी आत्मा के भीतर विस्मय की, भय की एक पुलक उठी। उसने धीरे से स्त्री का सिर उठाकर अपनी गोद में रख लिया...

फूटते हुए कोमल प्रकाश में उसने देखा, स्त्री उसी के एक बहुत छोटे, बहुत स्निग्ध, बहुत प्यारे प्रतिरूप को अपनी छाती से चिपटाये है और थकी हुई सो रही है। उसका हृदय एक प्रकाण्ड विस्मय से, एक दुस्सह हुलास से भर आया और उसके भीतर से एक प्रश्न फूट निकला, 'ईश्वर, यह क्या सृष्टि है, जो तूने नहीं की!'

ईश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया। तब मानव ने साँप से पूछा—ओ ज्ञान के रक्षक साँप, बताओ यह क्या है, जिसने मुझे तुम्हारा और ईश्वर का समकक्ष बना दिया है—एक स्रष्टा—बताओ, मैं जानना चाहता हूँ!

उसके यह प्रश्न पूछते ही अनहोनी घटना घटी। पृथ्वी घूमने लगी, तारे दीप्त हो उठे, फिर सूर्य उदित हो आया और दीप्त हो उठा, बादल गरज उठे, बिजली तड़प उठी...विश्व चल पड़ा!

साँप ने कहा—मैं हार गया। ईश्वर ने ज्ञान मुझसे छीन लिया। और उसकी गुंजलक धीरे-धीरे खुल गई।

ईश्वर ने कहा—मेरी सृष्टि सफल हुई, लेकिन विजय मानव की है। मैं

ज्ञानमय हूँ, पूर्ण हूँ। मैं कुछ खोजता नहीं। मानव में जिज्ञासा है, अतः वह विश्व को चलाता है, गति देता है...

लेकिन मानव की उलझन थी, अस्तित्व की समस्या थी। वह पुकार-पुकारकर कहता जाता था—मैं जानना चाहता हूँ! मैं जानना चाहता हूँ!

और जितनी बार वह प्रश्न दुहराता था, उतनी बार सूर्य कुछ अधिक दीप्त हो उठता था, पृथ्वी कुछ अधिक तेज़ी से घूमने लगती थी, विश्व कुछ अधिक गति से चल पड़ता था। और मानव के हृदय का स्पन्दन भी कुछ अधिक भरा हो जाता था।

× × ×

आज भी जब मानव यह प्रश्न पूछ बैठता है, तब अनहोनी घटनाएँ होने लगती हैं।

अलिखित कहानी

जून १९३४

मैं अपनी गृहलक्ष्मी से लड़कर अपने पढ़ने के कमरे में आकर बैठा हुआ था और कुढ़ रहा था।

लड़ाई मैंने नहीं की थी और निरपेक्ष दृष्टि से देखते हुए कहना पड़ता है कि शायद उसने भी नहीं की थी। वह अपने आपही हो गई—या यों कह लीजिए कि जैसी परिस्थिति हमारी है, उसमें लड़ाई होना स्वाभाविक ही है, उसका न होना ही अचम्भे की बात है।

मैं कोई बड़ा आदमी नहीं हूँ—पता नहीं आदमी भी हूँ कि नहीं!—मैं हिन्दी का कहानी-लेखक हूँ। और मेरी गृहलक्ष्मी एक हिन्दी लेखक की गृहलक्ष्मी हैं—हिन्दी लेखकों का और किसी लक्ष्मी से परिचय कब होता है। हम दोनों का जीवन बिलकुल नीरस है। इसके अलावा कुछ हो भी नहीं सकता। और इसी लिए हमारी लड़ाई अवश्यंभावी है...

क्योंकि, मैं कभी-कभी यत्न करता हूँ, अपनी कहानी के atmosphere द्वारा उस नीरसता को दूर कर दूँ जो हमारे जीवन में समा रही है। पर मेरी पत्नी यह नहीं कर सकती, उसका जीवन उस नीरसता में, गृहलक्ष्मी की सामान्य दिनचर्य्या में ऐसा जकड़कर बँधा हुआ है कि वह हिल-डुल भी नहीं सकती—अगर कभी हिलने की चेष्टा करे तो उसी दिन हम दोनों को रोटी न मिले—घर में चूल्हा ही न जले...और मैं कभी यह भी यत्न करता हूँ कि अपने को कहानी के atmosphere में न भुलाकर कहानी का atmosphere ही घर में ले आया जाये, ताकि हम दोनों उसका रस ले सकें, किन्तु तब लड़ाई हो जाती है...

जैसे आज हुई। एक प्रेम-कहानी लिखता उठा था, प्रेम की भावुकता से छलकती हुई, और उसके कुछ वाक्य मेरे कानों में अभी गूँज रहे थे...मैं एकाएक उठकर रसोई में गया, देखा, गृहलक्ष्मी अनारदाना पीस रही हैं। इससे मैं तनिक हतप्रभ नहीं हुआ, उसे सम्बोधन करके वे वाक्य दुहराने लगा·· उसने विस्मय से मेरी ओर देखा, फिर झुँझलाकर बोली, 'यह सब काम करना पड़ता तो पता लगता—'

यदि मैं इतने से ही घबरा जाता, तो क्या ख़ाक प्रेमिक होता? मैं और भी कहने लगा—

उसे ग़ुस्सा आ गया। बोली, 'तुम्हें शर्म भी नहीं आती। मैं काम करती मरी जाती हूँ, घर में एक पैसा नहीं है, और तुम बहके चले जा रहे हो जैसे मैं कोई थियेटर की—'

मुझे ऐसा लगा, किसी ने थप्पड़ मार दिया हो। मेरा सब आह्लाद मिट्टी हो गया, मुझे जो भयंकर क्रोध आया उसे मैं कह भी नहीं सका, चुपचाप अपने पढ़ने के कमरे में आ गया और सोचने लगा...

मुझे सूझा, घर को—इस प्रवञ्चना और कुढ़न के पुञ्ज को जो घर के नाम से सम्बोधित है—छोड़कर चला जाऊँ! पर, यदि इतने साधन होते कि घर छोड़कर जा सकूँ, तो घर ही में न सुख से रह सकता! यही सोचते-सोचते मेरा क्रोध गृहलक्ष्मी पर से हटकर अपने ऊपर आया। वहाँ से हटकर अपने काम पर और फिर संसार पर जाकर कहीं धीरे-धीरे खो गया, मैं केवल कुढ़ता रह गया··

ऐसे ही, ऊँघने लगा। ऊँघते-ऊँघते मुझे याद आया, तुलसीदास भी अपनी स्त्री के मुख से ऐसी एक बात सुनकर विरक्त हो गये थे और तुलसीदास बन गये थे! और एक मैं हूँ···मुझे सूझा, इस विभेद को कहानी में बाँधकर रखूँ, अपने जीवन की सारी विवशताएँ उसमें रख दूँ···

नींद आने लगी। मैंने मेज़ पर पड़ी हुई किताबों को एक ओर धकेलकर सिर रखने की जगह निकाली, और वहीं मेज़ पर सिर टेककर सो गया···

× × ×

नींद खुली, तो उस ढेर में से एक किताब खींची और विमनस्क-सा होकर उसके पन्ने उलटने लगा। एकाएक मेरी दृष्टि कहीं अटकी और मैं पढ़ने लगा······

'तुलसीदास के जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी वह, जब वे अपनी पत्नी के घर गये और उसकी फटकार सुनकर एकाएक विरक्त हो गये। इसी घटना ने उनके जीवन को बना दिया, उन्हें अमर कर दिया, नहीं तो वे उन

साधारण सुखी सामान्य प्राणियों की तरह जीवन व्यतीत करते जो अपनी ज़ीवन-सन्ध्या में देखते हैं कि उनके जीवन में कोई कष्ट नहीं हुआ, किन्तु साथ ही महत्त्व की बात भी कोई नहीं। उनका जीवन सुखी रहा है उनके लिए, किन्तु संसार के लिए—फीका, व्यर्थ, निष्फल···

'पुरुष-प्रेम की स्वाभाविक गति है स्त्री की ओर, किन्तु जब वह चोट खाकर उधर से विमुख हो जाता है, तब वह कौन-कौन-से असंभव कार्य्य नहीं कर दिखाता···

'किन्तु वह तभी, जब उसे इसके अनुकूल क्षेत्र मिले। ऐसा भी होता है कि वह चेष्टाएँ करके रह जाता है, स्त्री से विमुख होकर भी वह अपने को ऐसा आबद्ध पाता है कि और किसी ओर नहीं जा पाता, बढ़कर मर जाता है।

'इसी तथ्य को लेकर इस कहानी के लेखक ने यह छोटी-सी कहानी गढ़ी है।'

यह क्या! जो कहानी मैं लिखने को था, वह पहले लिखी जा चुकी है? और एक बिल्कुल अज्ञात लेखक द्वारा, जिसकी कहानी समझाने के लिए सम्पादक को इतनी लम्बी भूमिका बाँधनी पड़ी है।

मैं समझा था, यह मेरी ही अभूतपूर्व सूझ है, मेरी सर्वथा अपनी रचना, जो मेरा नाम अमर कर देगी, किन्तु वह भी दूसरे को सूझ चुकी है, दूसरे द्वारा लिखी और प्रकाशित की जा चुकी है, एक अज्ञात लेखक द्वारा! हाय अत्याचार!

मैं पन्ना उलटकर वह कहानी पढ़ने लगा···

(१)

'जो कहानी केवल कहानी भर होती है, उसे ऐसे लिखना कि वह सच जान पड़ें, सुगम होता है। किन्तु जो कहानी जीवन के किसी प्रगूढ़ रहस्य-मय सत्य को दिखाने के लिए लिखी जाय, उसे ऐसा रूप देना कठिन नहीं, असंभव ही है। जीवन के सत्य छिपे रहना ही पसन्द करते हैं, प्रत्यक्ष नहीं होते। उन्हें दिखाना हो तो ऐसे ही साधन उपयुक्त हो सकते हैं जो उन्हें प्रत्यक्ष न करें, छिपा ही रहने दें, जो छायाओं और लक्षणों के आधार पर उसका आकार विशिष्ट कर दें, और बस...

'इसलिए मैं अपनी इस कहानी को ऐसे अत्यन्त असंभाव्य रूप में रखकर सुना रहा हूँ, इस आशा में कि जो सत्य मैं कहना चाहता हूँ, वह इस रूप में शायद रखा जा सके, पाठक के आगे व्यक्त नहीं तो उसकी अनुभूति पर आरूढ़ किया जा सके···

'हाँ तो, कहीं, समझ लीजिए कि आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण से घिरे हुए किसी नगर में दो युवक रहते थे। उनकी विशेषता यह थी कि दोनों का जन्म एक ही दिन हुआ था, उनके आकार-प्रकार भी बिल्कुल एक-से थे, और उनका नाम भी एक ही था। लोग कहते थे कि वे जुड़वाँ बच्चे थे, किसी देवता के वर या शाप से अलग-अलग घरों में उत्पन्न हो गये थे। वे शैशव से ही परस्पर आकृष्ट रहते थे, फिर तबसे इकट्ठे खेले और पले थे...

'ऊपर कह आये हैं कि उनका नाम भी एक ही था। इस प्रकार इनकी इस संपूर्ण समरूपता का खण्डन करनेवाली एक ही बात थी—एक धनिक की सन्तान था और एक दरिद्र की। बस यही एक विभेद था उनके जीवन में। यद्यपि इसके फलस्वरूप एक और भी भेद आ गया था उनके नाम में...दोनों के माता-पिता ने उनका नाम रखा था तुलसी, किन्तु एक धनिक होने के कारण तुलसीदास कहाता था और दूसरा दरिद्र का पुत्र होने के कारण तुलसू के नाम से पुकारा जाता था ..

'यह सब तो हुई पूर्व की बात। हमारी कहानी का आरंभ इन दोनों के विवाह के बाद से होता है। हम कह चुके हैं कि इन दोनों का जीवन बिल्कुल एक-सा था, वे पढ़े भी एक साथ ही थे। और उसके बाद दोनों की रुचि भी साहित्य की ओर हो गई थी। और पढ़ाई के समाप्त कर चुकने पर एक ही दिन दोनों के विवाह भी हो गये थे, दोनों अपनी पत्नियों पर संपूर्णतः आसक्त थे...

'इतनी अधिक समरूपता संसार में मार्के की चीज़ है, दैवी देन है, इसलिए यह आशा करनी चाहिए थी कि दोनों को पत्नियाँ भी एक-सी ही मिलेंगी। और ऐसा ही हुआ भी, पत्नियों का साम्य भी उन्हीं की भाँति था और उन दोनों का नाम भी एक ही था।

'ख़ैर। विवाह के बाद की बात है, एक दिन दोनों नवयुवकों को एक साथ ही विचार आया कि पत्नी के बिना घर बिलकुल नीरस है, पत्नी ही घर की लक्ष्मी है और पत्नी ही सरस्वती भी, क्योंकि उसकी अनुपस्थिति में काव्योचित inspiration भी नहीं प्राप्त होता। अतः दोनों उठे और एक साथ ही चल दिये अपनी पत्नियों को लिवाने—वे उससे दो-चार दिन पहले ही मायके गई थीं...

'दोनों एक ही पथ पर इकट्ठे ही जा रहे थे, क्योंकि दोनों की ससुराल एक ही स्थान पर तो थी, साथ-साथ के घरों में।

'अब यह तो पाठक जान ही गये होंगे कि ये दोनों, तुलसीदास और तुलसू,

युवक होने के कारण मनचले भी थे, और कवि होने के कारण लापरवाह और उद्धत। बस दोनों ने ससुराल में घुसकर उचित-अनुचित का विचार तो किया नहीं, प्रणाम-नमस्कार के झमेले में पड़े नहीं, सीधे अपनी पत्नियों के कमरे में चले गये, और उनकी काव्यमयी स्तुति करने लगे—उन्हें घर लिवा ले चलने के लिए।

'पत्नियों को यह बात अच्छी नहीं लगी। एक तो स्त्रियों को वैसे ही रीति-रस्म का, बड़े-छोटे का, पर्दे-दिखावे का, ध्यान अधिक रहता है, दूसरे ये पत्नियाँ कोई कवि तो थीं नहीं, जो उस मधुर काव्यमयी प्रेरणा को समझतीं, जो दोनों युवकों को वहाँ घसीट लाई थी, या समझकर उसका आदर करतीं, उसे अपनातीं और स्वयं उसके आगे नमित होकर वैसी ही निर्लज्ज हो जातीं! उन्हें अपने पतियों की यह बात बहुत बुरी लगी। क्रोध भी आया, ग्लानि भी हुई। उन्होंने सोचा, इन्हें फटकारना चाहिए।

'किन्तु, स्त्रियाँ यह भी तो जानती हैं—अपने हृदय के गुप्ततम कोने में अनुभव करती हैं—कि प्रेम को फटकारा नहीं जा सकता। वह इतना विशाल, इतना सर्वव्यापी, और सब कुछ होते हुए इतना निराकार है...उसे फटकारा कैसे जाय?

'तब उन्हें सूझा, इसके लिए कोई ऐसी वस्तु चाहिए जो इससे भी विशाल, इससे भी सर्वव्यापी, इससे भी निराकार है, यानी परमेश्वर..यानी, परमेश्वर की दुहाई देकर इन्हें फटकारना चाहिए। और तब दोनों ने एक भर्त्सना-भरे दोहे में (क्योंकि कवियों की भर्त्सना करनी थी, जो भला गद्य में कैसे होगी?) पतियों को ख़ूब फटकारा।

'दोनों पति अपने भीतर प्रेम की एक पीयूष-सलिला बहती हुई लेकर आये थे, किन्तु उन्होंने देखा, इस भर्त्सना से वह एकाएक सूख गई, बन्द हो गई! उन्होंने हृदय टटोलकर देखा, वहाँ था एक विशाल मरु, और कुछ नहीं, कुछ नहीं...

'और वे विरक्त होकर उलटे पाँव लौट पड़े, बिना अपनी पत्नियों से एक शब्द भी कहे, सिर झुकाये, आहत...

'घर से बाहर, दोनो का सामना हुआ। दोनों ने एक बार एक दूसरे को आँख भरकर देखा, कुछ बोले नहीं। फिर दोनों अपने घरों की ओर चल दिये, किन्तु एक साथ नहीं, अलग-अलग। तुलसीदास चले सड़क की दाईं ओर, और तुलसू बाईं ओर। और उनके मध्य का वह थोड़ा-सा व्यवधान ऐसा हो गया, मानो वह ब्रह्माण्ड के विस्तार का दीर्घतम व्यास है, और वे दोनों उसके छोरों पर बँधे हुए, निकट नहीं आ सकते...

'और ऐसे ही, वे अपने-अपने घर जा पहुँचे।

(२)

'वह जो दैवी देन थी, मानो लुट गई, मानो उस भर्त्सना-भरे दोहे के दाह में भस्म हो गई। तुलसीदास और तुलसू के जीवन बिल्कुल एक दूसरे से अलग हो गये...उसमें अगर कुछ समता रह गई तो उनका भूत, जो मर चुका था। और उनके भविष्य...

'यहाँ से उनकी कहानी अलग-अगल कहना ही ठीक है।

'तुलसीदास ने घर पहुँचकर निश्चय किया, अब वे कभी स्त्री का नाम भी नहीं लेंगे, मुँह देखना तो दूर। उनका सारा मस्तिष्क स्त्री-मात्र के प्रति एक विरक्त ग्लानि-भाव से भर गया। उनके जीवन की फ़िलासफ़ी, जो अब तक स्त्रियोन्मुख थी, अब उधर से विमुख हो गई। उन्होंने देखा, स्त्री केवल पुरुष के पतन का एक साधन है, एक मिथ्या मोह, जिससे बचना, जिसकी ताड़ना करना, जिसे जीवन से उन्मूलित करना, पुरुष का परम कर्त्तव्य है ..स्त्री कुबुद्धि, कुमन्त्रणा, वासना, पाप, अधोगति, ईश्वर-विमुखता, नास्तिकता, ये सब एक ही तथ्य के विभिन्न मायाजनित रूप हैं, जिन्हें हम भ्रमवश विभिन्न नाम देते हैं...और यह निश्चय करके, स्त्री की नीचता और अयोग्यता और ताड़न-पात्रता पर विश्वास करके, वे खोजने लगे कि अब संसार में क्या है, जिससे अपनी जीवन-नौका बाँधी जाय, क्योंकि बिना साहारे वह ठहर नहीं सकती! और उन्होंने पाया कि स्त्री से बढ़कर व्यापक कोई वस्तु अगर हो सकती है तो ईश्वर ही। जो स्त्री से विमुख है वह अगर अपनी समूची शक्ति ईश्वर की भावना को पकड़ रखने में नहीं लगाता तो वह इस संसार-रूपी विराट् शून्य में खो जायगा, उसका निस्तार किसी भाँति नहीं हो सकता...उन्होंने देखा, जो विरक्त होकर ईश्वरवादी रहते हैं या होते हैं, वे इसलिए नहीं होते कि ईश्वर है, या वे आस्तिक हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें विवश होना पड़ता है, स्त्रीत्व-भावना, प्रेम-भावना को न मानने पर उनके लिए एकमात्र पथ यही रहता है कि ईश्वर-भावना के आगे सिर झुकायें, क्योंकि कहीं तो सिर झुकाना ही पड़ता है...

'यह सब, उन्होंने इस रूप में नहीं देखा, या देखा भी तो बहुत जल्द भुला दिया। मानव के मस्तिष्क में एक ऐसी शक्ति है, जो कठोर सत्य का ग्रहण करती है तो पहले उसे कोमल बना लेती है, अपने अनुकूल कर लेती है, अपने बड़प्पन के आगे झुका लेती है। वही तुलसीदास के मन में भी हुआ और वे नहीं जान पाये कि उनकी इस आस्तिकता का, इस धर्मपरायणता का, इस ईश्वरोन्मुख भक्ति, इस परमानन्द का मूलोद्भव कहाँ से हुआ है...

'खैर। तुलसीदास ईश्वर-सेवा का व्रत लेकर घर से निकल पड़े। देशाटन करने लगे, देश के विभिन्न विद्यापीठों और बौद्धिक संस्थाओं को देखकर अपना ज्ञान और अनुभव बढ़ाने लगे ...वे जहाँ जाते, उनका स्वागत होता, लोग उन्हें अपने रहस्य दिखाते और उनकी सम्मति माँगते, क्योंकि वे एक तो सम्पन्न, दूसरे प्रतिभा शील, तीसरे यौवन में ही विरक्त और इसलिए अधिक आकर्षक, और इस प्रकार सर्वथा आदरणीय थे···जब वे बहुत कुछ देख चुके, और उन्होंने पाया कि वे काफ़ी विद्या और कीर्तिलाभ कर चुके हैं, तब उन्होंने बौद्धिक संस्थाओं का भ्रमण छोड़ तीर्थाटन करना आरंभ किया; विभिन्न स्थानों के मन्दिर देख-देखकर, वहाँ के भव्य शान्त, सौरभ-भार से सुन्दर, घण्टा ध्वनि और आरती-द्युति से एक प्रकम्प आह्लाद-मय वातावरण से उत्पन्न होनेवाली अकथ जाग्रति को कविता-बद्ध करने लगे। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति बहुत फैल गई, उनके कई एक शिष्य भी हो गये तब उन्होंने बनारस में आकर विश्राम किया और वहीं एक विद्यापीठ या आश्रम स्थापित करके, अपने शिष्यों को एक महाकाव्य लिखाना आरंभ किया जो कि संसार को स्त्री-प्रेम से परे खींचकर, भक्ति-रस से परिप्लावित कर देगा, जो श्रीराम के भक्तों के लिए वेद से बढ़कर महत्त्व रखेगा, और जो तुलसीदास का नाम, और गौण रूपेण उनकी पत्नी का नाम (जिसका वे उच्चारण भी नहीं करते) अमर कर जायगा···तुलसीदास प्रौढ़ हो गये हैं, धीरे-धीरे वृद्ध भी हो जायँगे, फिर भक्तिरस से अनभिज्ञ मृत्यु आकर उन्हें उठा ले जायगी, किन्तु जीवन के पट पर वे अमिट अक्षरों में अपना जो नाम लिख जायँगे, उसे कोई मेट सकता है ?

(३)

'और तुलसू...

'वह थका-माँदा भूखा घर पहुँचा और अपनी झोंपड़ी के एक कोने में पड़ी फटी चटाई पर बैठकर सोचने लगा, वह मेरे जीवन की चन्द्रिका किस बादल में उलझकर लुप्त हो गई...प्रतिभा कहाँ गई...

'उसने भी देखा, स्त्री कितनी भयंकर शक्ति है, कितनी व्यापक, कितनी अमोघ ! उसने भी देखा, वह मानव को घेरे हुए है, घेरकर अटूट पाशों में बाँधे हुए है...

'उसके भी खिन्न और विरक्त और आहत मन ने कहा, स्त्री एक बन्धन है, उसे काट फेंको ! जाओ, संसार तुम्हारे सामने खुला पड़ा है, प्रतिभा तुम्हारे पास है। एक स्त्री के एक वाक्य के पीछे अपना जीवन खोओगे ? उठो, देखो संसार कुम्हार की मिट्टी-सा निकम्मा और आकार-हीन पड़ा है,

उसे बनाओ, किसी साँचे में ढालो ; अपने स्त्री-विमुख किन्तु प्रोज्ज्वल शक्ति-सम्पन्न प्रेम की भट्ठी में पकाकर उसका कुछ बना दो। और अमर हो जाओ!

'किन्तु तुलसू ने यह भी देखा, उसके बूढ़े माता-पिता उसकी ओर उन्मुख हुए मानो आँखों से ही कोई सन्देश उसे पहुँचा रहे हैं जिसमें पितरोचित, आज्ञापना नहीं, एक दरिद्र अनुरोध, एक करुण भिक्षा-सी है...उसने देखा, वे भूखे हैं और उसका कर्तव्य है उन्हें खिलाना-पिलाना, उनकी सेवा करना, उनके लिए मेहनत करना और उसमें अगर अपनी प्रतिभा का उपयोग अपने उच्चतम आदर्श को छोड़कर किसी छोटे काम के लिए करना पड़े तो उसे चुपचाप स्वीकार करना...

'और उसने यह किया। वह विवश होकर भजन-मण्डलियों, रास-अभिनय करनेवाली टोलियों, कथावाचकों के लिए भजन, गीत इत्यादि लिखने लगा, जिससे उसकी, उसके माता-पिता की, जीविका चल सके ..और उसने देखा, ज्यों-ज्यों वह अधिकाधिक मेहनत करता है, अधिकाधिक उग्र प्रयत्न से वैसे गान, वैसे भजन लिखता जाता है, जैसे उससे माँगे जाते हैं, त्यों-त्यों उसकी प्रतिभा नष्ट होती जाती है; त्यों-त्यों यह यन्त्र-तुल्य काम भी कठिनतर और कष्टसाध्य होता जाता है···और अन्त में एक दिन ऐसा आया, जब उसने देखा, वह कुछ भी नहीं लिख सकता—वे भद्दे कवित्वहीन idiotic गीत भी नहीं, जिन मात्र की उससे आशा की जाती है। जब उसने देखा, वह अपनी प्रतिभा का दुरुपयोग करके भी माता-पिता की सेवा नहीं कर सकता; क्योंकि वह प्रतिभा वहाँ है ही नहीं—वह एक मिथ्या, एक प्रवञ्चना थी जो इस सूक्ष्मकाल में उसे छोड़कर चली गई है, जब उसने देखा, वह अकेला यह नहीं सह सकता तब उसने माता-पिता की अनुमति ली और ससुराल जाकर अपनी पत्नी को लिवा लाया।

'रत्नावली ने घर आकर, उसकी जो अवस्था देखी, तो जो थोड़ा-बहुत आदर तुलसू के प्रति उसके हृदय में रह गया था, वह भी नष्ट हो गया। तुलसू यदि अपने आहत अभिमान को लिये बैठा रहता, उसके पास न जाता, तब शायद वह उससे प्रेम करती, उसके वियोग में पीड़ित भी होती, क्योंकि प्रत्येक स्त्री के लिए उपेक्षा एक आकर्षक चैलेंज है जिसे वह इन्कार नहीं कर सकती, जिसके आह्वान को वह विवश होकर स्वीकार करती है। किन्तु तुलसू को इस प्रकार लौटा हुआ देखकर उसे क्रुद्ध भी न पाकर उसे और भी अधिक ग्लानि हुई, यद्यपि वह उसके साथ चली आई।

'पति के घर आकर उसने तुलसू से कहा, "तुम्हारे यहाँ जोरू के गुलाम

बनकर बैठ रहने की कोई ज़रूरत नहीं है। जाओ, कुछ कमाकर लाओ, ताकि पेट भर खाना तो मिले !"

'जो बात तुलसू की आत्मा ने कही थी, वही आज उसे अपनी स्त्री के मुख से सुननी पड़ी। और आत्मा की जिस आज्ञापना की वह उपेक्षा कर गया था, वही स्त्री से पाकर वह उपेक्षा नहीं कर सका—यद्यपि वह स्त्री से विरक्त हो चुका था। वह भी निकला, उसी पथ पर जिसपर तुलसीदास गये थे—उसी पथ पर, किन्तु उससे कितने विभिन्न पथ पर ! तुलसू जहाँ जाता वहीं उसकी उपेक्षा होती, क्योंकि भारत में दरिद्रों की कब कमी हुई ? और उसकी ईश्वरोपसना ? लोग कहते, "घर में खाने को कुछ नहीं है, तो ईश्वर-भक्ति लिये फिरता है !" और यौवन ? लोगों ने कहा, "शर्म नहीं आती, ऐसा जवान होकर भी आलस के दिन काटने चला है, जाकर मेहनत-मजदूरी करते नहीं बनता ? और प्रतिभा ? वह यदि उस दरिद्रता की चक्की में पिसकर बची भी होती तो भी क्या इस घातक उपेक्षा में दीख पाती···

एक महीने बाद तुलसू लौट आया—भूखा, प्यासा, नंगा। छाती की एक-एक पसली दीख रही थी, मुँह खिचा हुआ, सफ़ेद, मानों हड्डी पर सूखा चाम तानकर लगा दिया हो, आँखें धँसी हुई, मानों अपनी ही लज्जा देखकर लज्जा से गड़ी जा रही हों—लौट आया, और झोंपड़ी के आँगन में धूप में ही बैठ गया, अपने में भीतर जाकर स्त्री का सामना करने का साहस न पाकर···

'लौट आया, और आँगन में धूप में बैठकर रोने लगा—ऐसा रोना जो कि जीवन में एक बार रोया जाता है, ऐसा रोना जो कि और सब रोने से भयंकर और घातक होता है, बिना मुखाकृति बिगाड़े (यद्यपि और बिगड़कर मुखाकृति क्या होती !) रोना, बिना आँसू बहाये रोना, रोना कहीं प्राणों के भीतर······

'तभी उसकी स्त्री बाहर आई, और उसे ऐसे बैठे देखकर तीखे व्यंग के स्वर में बोली—'लौट आये ? हाँ, बैठो ज़रा सुस्ता लो, बहुत काम कर आये हो ! एक वह है जिसका यश दुनिया गाती है, जिसने विरक्त होकर भी अपने साथ ही अपनी स्त्री का नाम भी अमर कर दिया है, और एक तुम ! शर्म-हया कुछ होती तो डूब मरते उसी दिन जब···" और एक तुलसू के कमरबन्द में खोंसी हुई कलम देखकर, पुनः धधककर 'लिखते हैं, काव्य करते हैं ! इससे तो मेरी यह भोंडी छुरी ही अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है !' कहकर उसने हाथ में ली हुई छुरी तुलसू के सामने पटक दी। और वापस भीतर चल दी। दो-एक कदम जाकर रुकी और अपने व्यक्तित्व का सारा ज़ोर, अपने पत्नी-हृदय की सारी ग्लानि, अपने स्त्रीत्व से

संक्षिप्त सारा तिरस्कार एक शब्द में भरकर बोली—"लेखक !" और फिर भीतर चली गई···

'तुलसू का प्याला भर आया। वह मुग्ध दृष्टि से उस छुरी की ओर देखने लगा, धीरे-धीरे गुनगुनाने लगा, यह भोंडी छुरी ही अच्छी है, साग-पात तो काट लेती है, कुछ काम तो आती है···कुछ काम तो आती है···

'उसने देखा, स्त्री ही संसार की सबसे बड़ी शक्ति है, स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बड़ी प्रेरणा···जब वह स्त्री से विमुख होता है, तब भी उसकी शक्ति नष्ट नहीं होती, परिवर्तित हो जाती है, और कार्यों में लग सकती है ·····उसने देखा, उस एक दोहे के फलस्वरूप वह क्या कुछ नहीं हो सकता था···किन्तु नहीं हुआ, इसलिए कि जो शक्ति उसे बनाने में लगती वह सारी खर्च हो गई इन छोटी-छोटी अत्यन्त क्षुद्र झंझटों में ; वह लड़ता तो रहा, किन्तु उन्नति की ओर बढ़ता हुआ नहीं, अवनति से बचता हुआ मात्र···

'और अपनी हार मानकर भी, उसने जाना, वह एक बहुत बड़ा तथ्य पहचान गया है जो शायद तुलसीदास ने नहीं पहचाना कि स्त्री का प्रेम ही संसार की सबसे बड़ी और अचूक प्रेरणा है, चाहे वह कोई रूप धारण करके आविर्भूत हो। उसने जाना, वह रुद्ध होकर, नष्ट होकर भी जीवन पर अपना अधिकार बनाये रखता है। जैसे अब। वह स्त्री से कभी का विरक्त हो चुका है, किन्तु उसकी स्त्री जो प्रेरणा कर रही है, उसे क्या वह इस समय भी टाल सकता है ? कभी भी टाल सकता है ?

'उसका ध्यान फिर उस छुरी की ओर गया। वे शब्द फिर उसके कानों में गूँजे। "यह भोंडी छुरी ही अच्छी है।" उसने छुरी उठाई। उँगली से देखने लगा कि क्या सचमुच भोंडी है। "साग-पात तो काट सकती है।" उतनी अधिक भोंड़ी नहीं है। "कुछ काम तो आती है।" कुछ काम··क्या काम ? वह अचूक प्रेरणा···

'तुलसू ने वह छुरी अपने हृदय में भोंक ली।

(४)

'तुलसीदास और तुलसू फिर मिले। बनारस के एक घाट पर।

'हमने आरंभ में कहा था कि तुलसीदास और तुलसू आख्योपन्यास की किसी रात के वातावरण से घिरे हुए किसी नगर में रहते थे और यहाँ हम उन्हें ले आये हैं बनारस में। पर यह इसलिए नहीं कि हमारी कहानी झूठी है, यह केवल इसलिए कि आख्योपन्यास के नगर भी उतने ही सच्चे हैं जितना बनारस, उतने ही स्थूल···संसार सारा बनारस-सा स्थूल भी नहीं है, आख्यो-

पन्यास-सा काल्पनिक भी नहीं, उसमें दोनों ही तत्त्व हैं···संसार में एक-से-एक बढ़कर असंभाव्य घटनाएँ घटती हैं, और बिलकुल साधारण, सामान्य घटनाएँ भी। यदि हम केवल सामान्य घटनाएँ ही चुनें और लिखें, तब हमारी कृति Realistic कहाती है, किन्तु होती है सच्चाई से उतनी ही परे जितनी Romantic कृति, जो केवल असंभव घटनाओं का ही पुंज होती है··· सच्चाई तो इन दोनों का सम्मिश्रण है, उसमें आख्योपन्यास के नगरों का भी उतना ही अस्तित्व है जितना बनारस का।

'हाँ तो तुलसू का शरीर उसके आँगन में से उठाकर तुलसीदासजी के आश्रम के पास ले जाया गया, क्योंकि तुलसू के घर में दाह-कर्म के खर्च के पैसे भी नहीं थे। तुलसीदासजी को सूचना दी गई कि एक मुर्दा है जिसके जलाने का प्रबन्ध नहीं है, तो उन्होंने तत्काल अपने एक शिष्य को भेज दिया कि वह प्रबन्ध करे। उसके चले जाने के बाद किसी ने कहा, "वही तुलसू था जो—" और तुलसीदासजी ने, मानों बहुत दूर की कोई बात याद करने का प्रयत्न करते हुए दुहराया, "अच्छा, वही तुलसू था जो—" और फिर अपनी भक्ति की शान्ति में लीन हो गये। लोगों ने कहा, "धन्य हैं ये, जिन्हें—"

× × ×

स्वप्न !

पता नहीं क्यों मैं चौंककर उठ बैठा। मैंने जाना, मैं वह सब पढ़ नहीं रहा था, वह स्वप्न में ही मेरी कल्पना दौड़ रही थी, वह मेरे जाग्रत विचारों का एक प्रक्षेपण (Projection) मात्र था...

मुझे ध्यान हुआ, यह बनी-बनाई कहानी है। मैंने काग़ज़ लिये, कलम उठाई, और लिखने को सन्नद्ध होकर बैठा।

हाँ, कहाँ से आरम्भ हुई थी ? कैसे ?

याद नहीं आई...मैं झुँझला उठा। तब जो अंश याद थे, वे भी भूल गये...मुझे याद रही केवल एक बात कि मेरी गृह-लक्ष्मी रोटी पका रही थी, मैं उससे लड़कर यहाँ बैठा था, और सोच रहा था, कि तुलसीदास—

तुलसीदास क्या ?

तभी मैंने न जाने क्यों घूमकर देखा, पीछे मेरी पत्नी खड़ी है। और क्रुद्ध नहीं है। मुझे घूमते देखकर उसने नीरस स्वर में कहा, 'चलो रोटी खाओ।'

मैंने देखा, उस स्वर में क्रोध नहीं है तो प्रेम भी नहीं, वह बिलकुल नीरस है। गृह-लक्ष्मी ने लड़ाई को भुला दिया है, किन्तु साथ ही सुलह करने का आनन्द भी खो चुकी है। और मैंने देखा, मेरी कहानी भी नष्ट हो गई है।

मैंने एक छोटा-सा निःश्वास छोड़कर कहा, 'चलो, मैं आया।'

पहाड़ी जीवन

मई १९३४

मोटर-एजेंसी के सामनेवाले उस भीड़-भड़क्के के, उस निरर्थक, विशृंखल, पुंजीभूत कोलाहल के एक छोर पर खड़ा हुआ गिरीश सोच रहा था— क्या मैं यही सब देखने आया हूँ ? यही है पहाड़ों का जीवन और आन्तरिक सौन्दर्य ?'

गिरीश लाहौर का रहनेवाला है, विद्यार्थी है, युवा है और युवकों की साधारण भावुकता से भी संपन्न है। और इन सबके अतिरिक्त वह धनिक नहीं है, तो भी ऐसा है, कि उसे कभी पहाड़ जाने के लिए फ़ीस के बहाने घर से रुपये मँगाकर जोड़ने नहीं पड़ते, बिना बहाने ही मिल जाते हैं।

हाँ, तो गिरीश ने निश्चय किया है कि उसमें साहित्यिक प्रतिभा है और उसी को पनपने का अवसर देने के लिए वह यहाँ आया है। अनुभव से जानता है कि जो लोग पहाड़ों में जाते हैं, वे कुछ भी देखकर नहीं आते, कुछ देखने आते भी नहीं। उनसे कोई पूछे कि अमुक स्थान में क्या देखा, या अमुक स्थान का जीवन कैसा है तो केवल इतना ही बता पाते हैं कि वहाँ ठण्ड बहुत है, या बर्फ़ का दृश्य बहुत सुन्दर है, या वहाँ घोड़े की सवारी का मजा आता है! बहुत हुआ, तो कोई यह बता देगा कि वहाँ चीड़-वृक्षों में हवा चलती है, तो उसका स्वर ऐसा होता है, या कि वहाँ किसी जल-प्रपात को देखकर जीवन की नश्वरता का या अजस्रता का, अथवा प्रेम की अचल एकरूपता का या अस्थायित्व का, या अपनी-अपनी रुचि के अनुसार ऐसी ही किसी बात का स्मरण हो आता है…पर, क्या यह सब वहाँ का जीवन है? क्या यही दर्शनीय है और बस? क्या वहाँ के वासी चीड़ के

वृक्ष खाकर जीते हैं, या जल-प्रपात पहनते हैं, या बर्फ़ से प्रणय करते हैं, या घोड़ों पर रहते हैं।

गिरीश इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर पाने और उस उत्तर को शब्दबद्ध करने यहाँ आया है। उसका विश्वास है कि वह यहाँ के जीवन की सत्यता देखकर जायेगा और लिखेगा। वह उस दिन का स्वप्न देख रहा है, जब उसकी रचनाएँ प्रकाशित होंगी और साहित्य-क्षेत्र में तहलका मच जायगा, लोग कहेंगे कि न-जाने इसने कहाँ कैसे यह सब देख लिया, जो लोग इतने वर्षों में भी नहीं देख पाये।

यह सब उसे एक दिन लाहौर में बैठे-बैठे ही सूझा था और उसने तभी तैयारी कर ली थी और दो-तीन सप्ताह के लिए डलहाउज़ी चला आया था। यहाँ आकर उसने अपना सामान इत्यादि एक होटल में रखा और खाना खाकर घूमने—पहाड़ी जीवन देखने—निकल पड़ा। किन्तु उसने देखा, वह जीवन वैसा नहीं है, जो स्वयं उछल-उछलकर आँखों के आगे आये, जैसा कि आजकल की सभ्यता का, आत्म-विज्ञापन का जीवन होता है। जब वह शाम को होटल लौटा, तब उसने देखा, उसका मस्तिष्क उससे भी अधिक शून्य है, जैसा वह लाहौर में था! क्योंकि गिरीश उन चित्रों और दृश्यों की ओर ध्यान देने के लिए तैयार नहीं था, जो कि और लोग—'साधारण लोग'—देखते हैं। वह अपने कमरे में बैठकर सोचने लगा कि कहाँ जाकर वह पहाड़ी जीवन का असली रूप देखे; किन्तु न-जाने क्यों उसका मन इस विचार में भी नहीं लगा, भागने लगा। उसे न-जाने क्यों एकाएक अपनी एक बाल्य-सखी और दूर के रिश्ते की बहन करुणा का ध्यान आया, जो सदा पहाड़ पर जाने के लिए तरसा करती है, जो कहती रहती है कि पहाड़ का जीवन कितना स्वच्छन्द होगा, कितना निर्मल, कितना स्वतःसिद्ध—जैसे आनन्दातिरेक से अनायास गाया हुआ शब्दहीन आलाप! वह सोचने लगा कि क्या सचमुच पहाड़ी जीवन ऐसा ही होता है, या यह उसकी भावुक बहन का इच्छा-स्वप्न है···?

काफ़ी देर तक ऐसी बातें सोच चुकने पर जब उसे एकाएक विचार आया कि वह पहाड़ी जीवन का पता लगाना चाहता है, न कि करुणा कि प्रकृति पर विचार करना, तब वह खीझकर उठ बैठा। फिर उसने निश्चय किया कि कल वह जाकर बाज़ार में बैठेगा और वहाँ पहाड़ी लोगों को देखेगा—नहीं, वहाँ क्यों, वह मोटर के अड्डे पर जायगा, जहाँ सैकड़ों पहाड़ी कुली आते हैं। वहीं उनका सच्चा रूप देखने को मिलेगा। उनके वास्तविक जीवन की

झलक तो, केवल तब देखने में आता है, जब मानव किसी आर्थिक दबाव का अनुभव करता है।

और यही निश्चय आज उसे यहाँ लाया था, जहाँ आधा घंटा बैठने के बाद वह उकताकर सोच रहा है—'क्या यही देखने मैं आया हूँ ? क्या यही है पहाड़ी जीवन और उसका आन्तरिक सौन्दर्य ?'

गिरीश एक मोटर कम्पनी के दफ्तर में बैठा है, उसके आस-पास और भी लोग हैं, जो आनेवाली लारियों की प्रतिक्षा में है—कुछ तो अपने मित्रों या संबन्धियों की अगवानी के लिए और कुछ होटलों के एजेन्ट इत्यादि। बाहर, कोई सौ-डेढ़ सौ कुली, जिनमें कुछ काश्मीरी भी हैं, बैठे, खड़े, या चल फिर रहे हैं। कोई सिगरेट पी रहा है, कोई गुड़गुड़ी ; कोई तम्बाकू चबा रहा है ; कोई अपने जूते उतारकर हाथ में लिये और उनकी परीक्षा में तन्मय हो रहा है ; कोई एक रस्सी का टुकड़ा अपनी उँगली पर ऐसे लपेट और खोल रहा है, मानो वही जगन्नियन्ता की सबसे बड़ी उलझन हो और वह उसे सुलझा रहा हो ; कोई हँस रहा है, कोई शरारत-भरी आँखों से किसी दूसरे की जेब की ओर देख रहा है, जो किसी अज्ञात वस्तु के विस्तार से फूल रही है ; कोई एक शून्य थकान-भरी दृष्टि से देख रहा है—न-जाने किस ओर ; कोई अपने आरक्त नेत्र मोटर कम्पनी, साइनबोर्ड पर गड़ाये हुए है ; और एक-आध बूढ़ा, भीड़ से कुछ अलग खड़ा, अन्धों की विशेषता-पूर्ण उत्सुक और अभिप्राय-भरी दृष्टि से (यदि अन्धी भी दृष्टि हो सकती है तो) देख रहा है, अपने आगे के सभी लोगों की ओर, यानी किसी की ओर नहीं…पर गिरीश को जान पड़ता है और ठीक जान पड़ता है कि इस प्रकार अपने विभिन्न तात्कालिक धन्धों में निरत और व्यस्त जान पड़नेवाले इन व्यक्तियों की वास्तविक दृष्टि, वास्तविक प्रतीक्षा, किसी और ही ओर लगी हुई है। इन लोगों के सामान्य शारीरिक उद्योग से कुचले हुए शरीरों के भीतर छिपी हुई है भूखे भेड़िये की-सी प्रमादपूर्ण और अन्वेषक तत्परता, जो लारियों के आते ही फूट पड़ेगी।

और झुण्ड से कुछ दूर पर, एक ही इकाई में बँधी-सी खड़ी हुई हैं कई एक पहाड़ी औरतें, अधिकांश पीठ पर डाँडियाँ बाँधे, कुछ एक छाती से दुधमुँहा बच्चा भी चिपकाये हुए। कुछ की डाँडियाँ तो साफ़ हैं, और शायद किराये के लिए हैं ; पर बाक़ी की काली हो रही हैं। जान पड़ता है, यह कोयला बेचने आई थीं, और अब वापस जाते हुए क्षण भर के लिए तमाशा देखने के लिए खड़ी हो गई हैं—क्योंकि स्त्रियों को तो भीड़-भाड़, शोर-गुल और रंग-बिरंगी चहल-पहल बहुत अच्छी लगती है न…

यहाँ आकर गिरीश की विचार-धारा एकाएक रुक गई। कुछ तो शायद इसलिए कि उसे सहसा ध्यान आया कि इस दिशा में सोचते रहने का कोई फल नहीं हो सकता, किन्तु विशेषकर इसलिए कि उसका ध्यान आकृष्ट हुआ उसके पास बैठे हुए अन्य लोगों की ओर और उनकी बातचीत की ओर...

कोई कह रहा था—'पहाड़ी लोग ? इनसे काम कराना हो, तो एक ही तरीका है, एक-आध को पकड़कर पीट दो। बस, फिर असम्भव भी सम्भव हो जाता है।'

गिरीश ने इस व्यक्ति की ओर ध्यान से देखा। वह एक हट्टा-कट्टा पंजाबी था, उसकी छोटी-छोटी आँखें, कलम के झटके से लिखी हुई-सी भौंहें, तोते की चोंच की भाँति मुड़ी हुई नाक, पतली और चंचल नसें, सिगरेट के धुएँ से पीली पड़ी हुई मूँछें और झुलसे हुए ओठ—सब इस बात के प्रमाण थे कि यह व्यक्ति झूठ नहीं कह रहा है, कि यह उपेक्षापूर्ण क्रूरता उसके जीवन की फ़िलासफ़ी ही है—केवल पहाड़ियों के बारे में एक विचारमात्र ही नहीं...

इससे हटकर गिरीश की दृष्टि दूसरे व्यक्ति की ओर गई। दो-तीन तो वहीं के (एजेंसी के काम करनेवाले) थे, उन्हें गिरीश छोड़ गया। एक और था ख़ूब मोटा-सा आदमी, धोती और डबल-ब्रेस्ट कोट पहने, किसी तीखे सेन्ट की सौरभ में डूबा हुआ, ऊपर के ओठ पर तितली के परों-सी मूँछ मानो चिपकाये और आँखों में एक उद्दण्डता, एक बेशर्म औद्धत्य, लिये हुए। इस व्यक्ति को दूसरे लोग 'सेठ साहब' कहकर सम्बोधन कर रहे थे।

इस ग्रूप का तीसरा व्यक्ति वर्णन से परे था। वह दुबला और साँवला था, इसके अतिरिक्त उसका कुछ वर्णन यदि हो सकता था, तो यही कि उसकी आयु का, उसके घर का और उसकी जात-पाँत का कुछ अनुमान नहीं हो सकता था—वह उन व्यक्तियों में से था, जो बहुत घूमते-फिरते हैं, और जहाँ जाते हैं, वहाँ अपने व्यक्तित्व का थोड़ा-सा अंश खोकर वहाँ के थोड़े-से ऐब ले लेते हैं, तब तक, जब कि अन्त में सर्वथा व्यक्तित्वहीन किन्तु सब अवस्थाओं के ऐबों से पूर्ण परिचित, नहीं हो जाते। ऐसे व्यक्ति पहाड़ों में और अन्य स्थानों में, जहाँ लोग बसते नहीं, केवल आते-जाते हैं, अकसर देखने में आते हैं।

गिरीश आगे सुनने की प्रतिक्षा में था कि कौन क्या कहता है। तब यह अन्तिम व्यक्ति बोला—'हाँ, आप ठीक कहते हैं। मुझे याद है, कई बरस हुए, मैं इधर कांगड़े की तरफ़ सैर कर रहा था, तब एक खच्चरवाले ने बहुत तंग किया—थोड़ी दूर जाकर कहने लगा कि खच्चर नहीं चलता, उसे कुछ नाज खिलाना है, पैसे दीजिए ! मैंने तंग आकर दो थप्पड़ जमाये, तो बोला,

आप अपना सामान उतरवा लीजिए, मैं नहीं जाता। तब तो मैंने उसे खूब ही पीटा—मेरे पास बल्लम था, उसके कुन्दे से मारा। ऐसे ही उसे साथ ले गया और फिर दंड-स्वरूप पैसे नहीं दिये।'

'तो खच्चर फिर चला ?'

'चलता कैसे नहीं ? असल में ये लोग उन्हें चलाते ही नहीं, जैसे चाहे चलने देते हैं। भला, ऐसे भी कोई जानवर चलता है ?'

'हूँ।'

थोड़ी देर तीनों व्यक्ति चुप रहे—बाहर एक दृश्य की ओर देखते रहे। गिरीश ने उनकी दृष्टि का अनुसरण करके देखा, एजेंसी के सामने खुले चौक में एक घोड़ेवाला अपना घोड़ा लादने के विरुद्ध प्रतिवाद कर रहा था। उसे घोड़े पर लादने के लिए दो पेटियाँ दी गई थीं। एक बहुत बड़ी और एक बहुत छोटी, और वह कह रहा था कि वे घोड़े पर नहीं लद सकतीं, क्योंकि दोनों ओर बराबर बोझा होना चाहिए। जिसकी पेटियाँ थीं, वह कह रहा था—'लद कैसे नहीं सकतीं ? लाद लो, जरूरी जानी हैं।' और घोड़ेवाले के सारे तर्क का उत्तर यही दे रहा था कि 'भार ठीक कैसे नहीं है ? कुल तीन मन होगा—घोड़े तो छै-छै मन लादकर ले जाते हैं !'

इसी घटना को देखते-देखते उपर्युक्त बात छिड़ी थी, क्योंकि पेटियों का मालिक तेज़ होता जा रहा था और सब ओर यही प्रतीक्षा थी कि घोड़ेवाला या तो किसी प्रकार बोझ लादता है, चाहे उतने पत्थर डालकर ही बोझ को एक-सा करता है, और फिर पेटीवाले से पिटता है। कुली भी इस दृश्य को देखने की उत्कंठा से उधर घिरे आ रहे थे। [कुछ औरतें भी पास आकर देख रही थीं।

और गिरीश भी देख रहा था...

एकाएक मोटे सेठ साहब के भीतर कहीं गड़गड़ाहट का-सा शब्द हुआ। उसे सुनकर और सेठ साहब के मुख की परिवर्तनशील गति को देखकर गिरीश ने जाना कि सेठ साहब हँस रहे हैं। तब सेठ साहब एक भारी आवाज़ में—बहुत पान खाने से उनका गला बहुत बैठ रहा था और ज़बान मोटी हो गई थी, कहने लगे—'मुझे भी एक बात याद आ गई। मैं एक बार पहले इधर आया था, तब मुझसे भी ऐसा ही हुआ था। तब इधर इतनी बस्ती तो थी ही नहीं, घोड़े ढूँढ़ने से मिलते थे। जो किरायेवाले होते भी थे, वे नखरे करते थे—बाद में चाहे सस्ते ही मिल जायँ। हाँ, तो मैं इधर जा रहा था चम्बे की ओर, घोड़ेवाले ने कुछ शरारत की। मुझे याद नहीं, क्या बात थी, कुछ ऐसा ही झगड़ा था कि सामान बराबर-बराबर नहीं बँटता,

इसलिए नहीं लादा जा सकता। अगर एक बिस्तरा खोल दिया जाय, तभी ठीक हो सकता है। ज़रा सोचिए तो, एक मनहूस घोड़े के लिए मैं अपना बिस्तर खोलकर सड़क पर बिखेरूँ? मैंने घोड़ेवाले से कहा कि तुम्हें लेना पड़ेगा। उस बद-दिमाग़ ने जवाब भी नहीं दिया, यों हाथ नचाकर बतलाने लगा कि असम्भव है। फिर मैंने भी वही किया, उसके एक ही तमाचा ऐसा दिया कि ठीक हो गया।'—कहकर सेठ साहब ने अभिमान से अपने फूले हुए हाथ की ओर देखते हुए कहा—'और चल पड़ा।'

रुककर सेठ साहब ने एक बार चारों ओर देखा, यह जानने के लिए कि सब उनकी बात सुन रहे हैं या नहीं। फिर सन्तुष्ट होकर बोले—'हाँ, मज़े की बात तो अब आती है। दूसरे ही दिन उस घोड़ेवाले ने घर-बार छोड़ दिया और संन्यासी हो गया। किसी से कह गया कि यह घोड़े हाँकने का काम मुझसे नहीं होता।'

सेठ साहब ने फिर आत्मतुष्ट-दृष्टि से सब ओर देखा और चुप हो गये।

गिरीश एक नये क्षीण-से कौतूहल से उस भीड़ की ओर देखने लगा, जो बाहर जुट रही थी। सोचने लगा कि इन लोगों में क्या सभी का जीवन एक-सा ही है—दिन-भर टें-टें, चें-चें करना, घोड़े हाँकना और शाम को खा-पीकर सो रहना, या गलौज कर लेना?

एकाएक उसकी दृष्टि अटक गई—एक बैंगनी रंग के रूमाल के नीचे। एक स्त्री-मुख पर। एक स्त्री-मुख में जड़ी हुई आँखों पर।

जो भीड़-सी इकट्ठी होकर सेठ की बात सुन रही थी—सुन नहीं रही थी, कानों से उसी भाँति बीन रही थी, जिस भाँति किसी धनिक की थाली में गिरी हुई जूठन को कुत्ते बीनकर खाते हैं,—उसी भीड़ के स्त्री-अंश में से एक स्त्री कुछ आगे बढ़कर खड़ी थी—एकाएक जड़ित हुई गति की अवस्था में, एक पैर कुछ आगे बढ़ा हुआ, शरीर सहसा रुकने के कारण कुछ पीछे खिंचा हुआ-सा एक हाथ उठा हुआ, माथे पर टिककर प्रकाश से आँखों पर ओट करता हुआ, ताकि आँखें अच्छी तरह देख सकें।

और वे आँखें? उस हथेली से संचित किये अन्धकार में वे स्थिर दीप्ति से चमक रही थीं, मानों शुक्र तारों का जोड़ा दीप्त हो रहा हो। और वे देख रही थीं घूर-घूरकर उस सेठ के मुँह की ओर, मुँह पर स्थिर रहकर भी सारे शरीर की ओर, मन की ओर, मानसिक झुकाव की ओर...

गिरीश ने बड़े यत्न से अपनी आँखें उन आँखों से हटाईं और उस स्त्री का सम्पूर्णत्व देखने लगा।

उसकी वेश-भूषा बिलकुल साधारण थी—सिर पर कसकर बाँधा हुआ

बैंगनी रंग का रूमाल, कान में चाँदी के झुमके, गले में एक लम्बा सफेद कुरता (जो कभी सफेद था, अब नहीं है), जिसके ऊपर एक मनकों का हार, उसके नीचे मटियाले रंग की छींट का तंग पैजामा। किन्तु उसे देखकर ध्यान उस वेश की साधारणता की ओर नहीं, बल्कि उससे वेष्टित व्यक्तित्व की असाधारणता की ओर आकृष्ट होता था।

यद्यपि उसमें असाधारण क्या था ? वह कोई विशेष सुन्दर नहीं थी, उसमें कुछ विशेष नहीं था, सिवा उन आँखों की उस स्थिरता के—वह इतनी तीखी और कठोर थीं कि आँखें निर्लज्ज तक जान पड़ती थीं, जैसे किसी संसारी अनुभव-प्राप्त पुरुष की।

किसी असाधारण वस्तु के देखने से जो एक हल्का-सा, शारीरिक खिंचाव-सा होता है, उसमें शायद शरीर की और इन्द्रियों की, अनुभूति-शक्ति बढ़ जाती है, या शायद कोई अन्य अमानवीय इन्द्रिय काम करने लग जाती है। किसी ऐसी ही क्रिया के कारण गिरीश को मालूम हुआ कि उसके सामने की भीड़ के वातावरण में कुछ परिवर्तन हो गया है। उसने जाना कोई व्यक्ति भद्दे अभिप्राय से उस स्त्री की ओर देख रहा है, उसे हाथ से थोड़ा-सा हिलाकर सेठ साहब को इंगित करके कह रहा है—'हाँ, हाँ, वह अमीर है...और—वैसा है...' उसने जाना कि स्त्री का ध्यान एकाएक टूट गया है और वह कुछ सहमकर पीछे हट रही है।

वह उस समय तक वैसी ही खड़ी थी। गिरीश ने देखा, अपनी साधारण आँखों से देखा कि उस स्त्री के चिबुक पर एक छोटा-सा, हल्के नीले रंग का, गोदा हुआ बिन्दु है। इसके साथ ही उसकी वह विस्तृत हुई अनुभूति-शक्ति भी सकुचकर अपनी साधारण अवस्था में आ गई है।

वह स्त्री पीछे हट गई ; हटकर पास खड़े एक और पहाड़ी को देखकर उससे धीरे-धीरे कुछ कहने लगी, जिसे गिरीश नहीं सुन पाया। उस पहाड़ी से बात करते समय भी वह देख रही थी सेठ साहब की ओर ही। जब उसकी बात सुनकर उस पहाड़ी ने प्रश्न-भरी दृष्टि से मोटर-कम्पनी के दफ़्तर के भीतर देखा, तब उसने हाथ उठाकर सेठ साहब की ओर इशारा किया।

सेठ साहब ने भी यह अभिनय देखा। उन्हें शायद कुछ कौतूहल हुआ ; शायद इस बात से उनकी आत्मश्लाघा को कुछ आहार मिला कि कोई उनकी ओर इशारा करके उन्हें और व्यक्तियों से विशिष्ट महत्त्व दे रहा है ; पर आखिर वह थी तो स्त्री ही। सेठ साहब ने अपने भारी गले से कोमल, किन्तु किसी जुगुप्साजनक अभिप्राय से कोमल स्वर निकालने की चेष्टा करते हुए पूछा—क्यों, 'क्या चाहिए ?'

वह स्त्री घबराकर घूम गई और उस पहाड़ी के साथ, जिससे उसने कुछ कहा था, जल्दी से भीड़ में से निकलकर अदृश्य हो गई। गिरीश की स्मृति में उसका तो कुछ रहा नहीं, रहा केवल उसकी पीठ पर लदी हुई कोयले की धूल से काली डाँड़ी का एक धूमिल चित्र; किन्तु मन में उससे सम्बद्ध अनेकों विचार उठने लगे। पूछने लगे कि वह अभिनय क्या था, भाँपने लगे कि उन दीप्त स्थिर आँखों का रहस्य उन्हें ज्ञात हो।

होगा, होगा...होता ही होगा...यही देखने, यही जानने तो वह यहाँ आया है, यही तो यहाँ के जीवन का छिपा हुआ रहस्य है, जो सतह के पास ही रहता है; किन्तु देखने में नहीं आता। वह इसी को उधेड़कर रखेगा और अपना नाम अमर कर जायगा।

और उसका ध्यान फिर गया करुणा की ओर। वह और करुणा बाल्य-सखा थे; किन्तु पिछले दिनों धीरे-धीरे न-जाने क्यों और कैसे अलग-अलग हो गये थे—वैसे ही, जैसे सभी लड़के-लड़कियाँ एकाएक वयःसन्धि के काल में हो जाती हैं—परस्पर रूखे, उदासीन, एक दूसरे को न समझ सकनेवाले, विचार-विनिमय में असमर्थ। आज गिरीश यह भी नहीं कह सकता कि वर्तमान संसार के प्रति करुणा के भाव क्या हैं, वह संसार को क्या समझती है और उससे क्या आशा करती है? वह सुखी भी है या नहीं, इसका उत्तर भी गिरीश नहीं दे सकता, यद्यपि करुणा से जितना परिचय उसका है, उतना शायद ही किसी का होगा।

यह क्यों है? ऐसा क्यों है कि वह करुणा के विचारों की यदि कोई बात जानता है, तो यही कि करुणा पहाड़ों को चाहती है, उनमें रहने की इच्छुक है, उनसे स्वतन्त्रता की और सुख की आशा करती है, और यह भी इसलिए कि एक बार चोरी से उसने करुणा के लिखे हुए कुछ पन्ने पढ़े थे? इसी लिए कि हम अपनी आँखें खुली रखकर भी अपने घर में ही कुछ नहीं देखते—देख नहीं पाते। हममें से कितने हैं, जो अपने घर में ही, अपने भाई-बहनों के विचार जानते हैं, समझते हैं, या जानने-समझने की चेष्टा भी करते हैं?

गिरीश सोचने लगा, मैं यहाँ क्यों आया हूँ? क्या यह अधिक उचित नहीं है कि घर जाकर पहले अपने निकटतम लोगों का जीवन समझूँ, फिर उसी का आश्रय लेकर यहाँ के जीवन का अध्ययन करूँ? क्योंकि प्रत्येक वस्तु को कसा तो किसी कसौटी पर ही जा सकता है, और उसके पास कसौटी तो कोई है ही नहीं।

नहीं, है क्यों नहीं? वह क्या इतने दिन तक आँखें बन्द ही किये रहा, क्या उसने संसार ही नहीं देखा? वह समझ सकता है और विचार कर

सकता है। उसमे इतना विवेक है कि वह पहाड़ी जीवन को देखे, उसका सत्य अलग करके जाँच सके। और वह देखेगा, अवश्य देखेगा। करुणा का क्या है, वह तो घर में है ही, उसे किसी भी दिन जाकर गिरीश समझ सकता है। स्त्रियों को समझना कौन बड़ी बात है ? और फिर करुणा को वह इतने दिनों से जानता है, वह कुछ छिपायेगी थोड़े ही ?

और फिर, यह जो आज अभिनय देखा है, वह समझे विना कैसे जाया जाय ? यह मन से निकल नहीं सकता, जब तक उसका उत्तर न पा लिया जाय। और गिरीश समझता है कि वह ठीक पथ पर चल रहा है, उससे यह रहस्य छिपा नहीं रहेगा, स्वयं भी खुलेगा और पहाड़ी जीवन की सत्यता भी दिखा जायगा।

गिरीश उठा और होटल की ओर चल दिया। उसे यह परवा न रही कि अब लारियाँ आने ही वाली हैं, अब पहाड़ी जीवन का एक पहलू देखने को मिलेगा। उसका चेतन मन उस स्त्री की बात पर विचार कर रहा था और स्वल्प चेतन (Subconscious) मन निश्चय कर रहा था कि करुणा को पत्र लिखना है...उसने यह भी नहीं देखा कि कुलियों मे एकाएक कोई नई स्फूर्ति आ गई—क्यों...

(२)

एक सप्ताह के—पहाड़ में आये हुए यात्रियों के-से जीवन के निरर्थक एक सप्ताह के बाद।

गिरीश डलहौजी से सैर करने निकलकर, चम्बे के रास्ते पर चल पड़ा था और लकड़मण्डी में एक चीड़ की छाया में बैठा हुआ था। पास एक छोटी कापी, कुछ खुले काग़ज़ और फाउन्टेन पेन रखा हुआ था, हाथ में एक पत्र के दो-चार पन्ने थे, जिन्हें वह अभी कोई पाँचवी-छठी बार पढ़ चुका था।

गिरीश होटल से यहाँ आया था कि एकान्त में बैठकर कुछ विचार करेगा, कुछ लिखेगा, लिखने के लिए कुछ सुलझाकर मैटर रखेगा, पर साथ ही वह ताज़ी डाक में आये हुए पत्र भी ले आया था कि यहीं चलकर पढ़ूँगा और यदि जवाब भी देना होगा, तो वहीं लिख दूँगा। इन पत्रों में एक करुणा का भी था, जिसे उसने अभी पढ़ा है और जिसने उसके लिखने के विचारों को बिलकुल बिखेर दिया है।

यह नहीं कि गिरीश कुछ सोच ही न रहा हो ; किन्तु वे विचार हैं उलझे हुए, पागलपन से भरे, अशान्ति को और बढ़ानेवाले। वह सोच रहा है कि मैंने क्यों करुणा को पत्र लिखा ? जो हमारा बाल्य-सख्य टूट-सा गया था,

उसे क्यों भावुकता के आवेश में आकर जमाने की चेष्टा की ? क्योंकि यह आज की करुणा तो वह करुणा नहीं है, वह करुणा भी नहीं, जो पहाड़ी जीवन की स्वच्छन्दता के लिए तरसती थी। यह तो एक नई कठोर, अत्यन्त अकरुण किन्तु जीवन से छलकती हुई करुणा है, जिसे उसके पत्र ने जगा दिया है और जिसे अब कुछ लिख नहीं सकता, क्योंकि जिस आग्नेय तल पर करुणा का पत्र लिखा गया है, उस तल पर वह कैसे पहुँच सकता है, यद्यपि करुणा ने उसे ऐसे पत्र लिखा है, जैसे वह कोई बड़ा कवि, या पहुँचा हुआ फ़िलासफ़र हो—उस पत्र में से इतना विश्वास, इतनी श्रद्धा टपकती है।

गिरीश फिर एक बार उस अंश को पढ़ने लगा—'आपने पूछा है, मेरे जीवन में क्यों यह परिवर्तन आ गया है, क्यों मैं ऐसी अशान्त-सी रहती हूँ ? आप पूछते है ; पर मैं आपको न लिखूँगी, तो किसको लिखूँगी ? यहाँ के लोगों को, जिन्हें इतना भी पता नहीं कि अशान्ति क्या होती है ?

'मैं पूरा तो लिख भी नहीं सकती, थोड़ा-सा ही लिखती हूँ ।

'मुझे आपकी कहानी के शब्द "जिस देश में पुरुष भी गुलाम हों, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है" रह-रहकर याद आते है और कहूँ कि यही मेरी अशान्ति का सार है। मैं ऐसे देश की स्त्री हूँ—और ऐसे देश में भी, जो गुलाम समाज है उसकी, हिन्दू समाज की।'

गिरीश को याद आया कि उसने अपनी कौन-सी कहानी में किस स्थान पर यह लिखा था। वह सोचने लगा, मैंने अपनी बुद्धि से जो लिखा था, केवल प्रभाव के लिए, उसे सच समझनेवाले, उसका यथातथ्य अनुभव करनेवाले, भी संसार में हैं। इस विचार से वह एकाएक सहम-सा गया, वैसे ही, जैसे कोई शिकारी पहले बन्दूक चलाये और फिर उसकी घातक शक्ति का प्रमाण पाकर एकाएक सहम जाय। और वह पढ़ने लगा—'इस देश में स्त्री होकर जन्म लेना मृत्यु-यन्त्रणा से भी बढ़कर ही है। मृत्य तो यन्त्रणाओं से छुटकारा दे देती है ; किन्तु यह जन्म स्वयं समस्त यन्त्रणाओं का मूल है। आप इसे गौरव समझें या साहस ; किन्तु उन्हें जीना पड़ता है और वे कहीं से तनिक-सी सहानुभूति पा लें, तो उसके दाता के हाथ मानो बिक जाती हैं, बाज़ारू कुत्ते की भाँति वे अपना यह अधिकार भी नहीं समझतीं कि उन्हें सहानुभूति मिले ! इस प्रकार वे कब-कितना धोखा खाती हैं, पतन की ओर कैसे बढ़ती जाती हैं, समझ नहीं पातीं। समझ कैसे ? निचाई का अनुभव वे कर सकते हैं, जिन्होंने कभी ऊपर उठकर देखा हो ; पर हम स्त्रियाँ तो सदा से ही दलित हैं !

'भइया, आप लेखक है, आप में शक्ति है, प्रतिभा है, आपके पास

साधन भी हैं, आप स्त्रियों को जगाइए। उनके लिए लड़ते नहीं तो न सही, उनकी सोती शक्ति का आह्वान तो कर दीजिए, फिर देखिए—'

गिरीश को ऐसा जान पड़ा, कोई उसके भीतर कहने को हो रहा है कि मैं क्या कर सकता हूँ ? मैं तो कुछ जानता नहीं, कुछ देख ही नहीं सकता ; किन्तु उसके अहंकार ने इसे दबा दिया। वह आगे पढ़ने लगा—'परमात्मन् ! हमें क्या हुआ है, जो हम मरने के योग्य होकर भी मरती नहीं, अहंकार में डूबी हुई हैं; जंजीरों में जकड़ी जाने में ही अपना स्वातन्त्र्य समझती हैं ?

'—धिक्कार है हमारे जीवन को !'

गिरीश ने पत्र लपेटकर जेब में डाल लिया और सोचने लगा, मुझमें क्यों लोगों को श्रद्धा है, क्यों वे मुझसे आशाएँ करते हैं ? यदि मैं कुछ न कर सका तो ? यह उत्तरदायित्व क्यों मेरे सिर पर लादा जा रहा है ? एकाएक वह खीझ उठा। क्यों मैं विवश किया जा रहा हूँ कि किसी एक दिशा में अग्रसर होऊँ; क्यों न अपनी स्वच्छन्द प्रगतियों का अनुसरण करूँ ? कला तो किसी बाह्य प्रेरणा से चलती नहीं, वह तो स्वयं प्रमुख प्रेरक है।

इस निर्णय के बाद यह विचार लीन हो गया। दूसरा उठा कि क्या करुणा ठीक कहती है ? क्या स्त्रियों के जीवन सचमुच ऐसे हो रहे हैं; क्या इसका कारण यही है कि पुरुष भी दास हैं ? एकाएक उसे एक वाक्य सूझा, जिसका वह पूरा अभिप्राय नहीं समझा; पर जो उसे सुन्दर जान पड़ा। उसने काग़ज़ पर इसे लिख लिया, भविष्य में कहीं काम में लाने के लिए—'अधिकारी देश की शक्ति वहाँ के पुरुष होते हैं, स्त्रियाँ हैं केवल एक अधोमुखी प्रेरणा, किन्तु पराधीन देश का जीवन होती हैं उसकी स्त्रियाँ ही, जिनके बिना वहाँ के पुरुषों का भविष्य अत्यन्त अन्धकार-पूर्ण है।'

वह सोचने लगा, यह दासत्व क्या एक बाह्य बन्धन है, या अन्तःशक्ति की एक निष्क्रिय परमुखापेक्षी अवस्था ? आदमी केवल बँध जाने से ही दास नहीं हो जाता। दासता तो एक आत्मगत भावना है। तभी तो जो दास हो जाते हैं, वे स्वाधीनता पाकर उसका उपभोग नहीं कर सकते, न कभी उसकी इच्छा ही करते हैं।

उसे एक घटना याद आई, जो उसी दिन घटी थी, और जैसी यहाँ नित्य सैकड़ों बार घटती है। उसने उसे एकाएक ग्लानि से भर दिया था।

वह कुछ सोचता हुआ चला आ रहा था, इधर ही लक्कड़मण्डी की ओर। एकाएक उसने सुना कि एक बालक उसे देखकर, पथ की एक ओर खड़ा होकर कह रहा है—'सलाम, साहब !' गिरीश को यह कुछ अच्छा-सा लगा। उसने कुछ मुसकराकर उत्तर दिया—'सलाम।' तब बालक ने एक दीन स्वर

में, जो सर्वथा स्वाभाविक नहीं था—बालकों की स्वाभाविक नकल करने की शक्ति से प्रेरित था, कहा—'बक्शीश, साहब!' गिरीश को एकाएक ध्यान आया, यह सलाम उसे नहीं, उसके सिर पर के टोप को किया गया था और वह भी एक पैसे की आशा में। वह सोचने लगा, यह है दासत्व की पराकाष्ठा जहाँ पर किसी टोप को देखकर उसके आगे झुकना और झुकने के पुरस्कार-रूप में कुछ पाने की अपेक्षा करना एक अनिच्छापूर्ण क्रिया हो गई है, और वह भी बच्चे-बच्चे में अभिभूत; और इतनी सामान्य कि लोगों का ध्यान ही इसके गूढ़ अभिप्राय की ओर नहीं जाता। वे सलाम ले लेते हैं और चले जाते हैं, और स्वयं हैट पहने रहते हैं।

इन विचारों की उग्रता से शायद गिरीश का मन थक गया। वह चीड़ के वृक्ष के सहारे लेट गया और आकाश की ओर देखने लगा।

एक परिचित स्वर ने उसे चौंका दिया। जिस स्थान पर वह बैठा था, वहाँ से लकड़मण्डी की बस्ती दीखती थी। उसी के पास गिरीश ने देखा, उस दिनवाले सेठ साहब एक पहाड़ी आदमी से पूछ रहे हैं—'क्यों वे, इस बस्ती का नाम क्या है?'

'क्यों बाबू, तुम्हें क्या काम है? तुम जाओ, इधर क्या करते हो?'

'बकवास मत कर! यह जगह तेरे बाप की खरीदी हुई है?'

'बाबू, बहुत बोलो मत! चुपचाप चले जाओ! नहीं तो अच्छा न होगा।' कहकर पहाड़ी नीचे बस्ती की ओर देखने लगा, मानों सहायता के लिए पुकारेगा। सेठ साहब भी यह देखकर कुछ ठंडे पड़ गये, भुनभुनाते हुए लौट पड़े। थोड़ी देर में वे गिरीश की आँखों से ओझल हो गये। गिरीश इस घटना पर विचार करने लगा—उसकी समझ में न आया कि वह पहाड़ी क्यों इतनी बदगुमानी से उत्तर दे रहा था, सेठ ने कोई बात तो ऐसी नहीं कही थी। शायद सदा दबते रहने से यह पहाड़ी ऐसे हो गये हैं कि मौका लगते ही अपना बदला निकालते हैं!

गिरीश चाहता था कि वह पहाड़ियों के प्रति न्याय करे और इसलिए वह प्रत्येक बात में उनके पक्ष को पुष्ट करने के लिए युक्तियाँ खोजा करता था। इसी लिए अब भी उसने यही निश्चय किया कि ये पहाड़ी हम लोगों से डरने लग गये हैं, और उसी डर से लज्जित होकर कभी-कभी दिलेर बन जाते हैं—एक दिखावटी दिलेरी से।

किन्तु आज शायद पहाड़ियों ने निश्चय किया था कि अपने जीवन की समस्त पहेलियाँ एक साथ उसके आगे बिखरा देंगे; उसे ललकारेंगे कि वह उन्हें सुलझा सकता हो तो सुलझाये। वह अभी इसी समस्या पर विचार कर

रहा था कि उसने फिर सेठ साहब का स्वर सुना, अबकी बार अपने बहुत निकट और धीमा, मानो कुछ गुपचुप बात कहने का यत्न कर रहे हों। वे किसी स्त्री से बात कर रहे थे, क्योंकि बीच-बीच में कभी एक-आध शब्द किसी स्त्री-कण्ठ का निकला हुआ भी सुन पड़ता था।

वह बात इतनी गोपनीय नहीं थी--उसका गोपन हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह संसार की सबसे पुरानी बात, सबसे महत्त्वपूर्ण बात—और जो शक्ति का मूल्य समझते हैं, उनके लिए सबसे गौरव की बात थी; पर जिस प्रकार कला बेची जाकर केवल एक व्यावसायिक निपुणता रह जाती है, जिसका स्वामी स्वयं उसे एक व्यावसायिक गुण समझकर उसे स्वीकार करने में अपनी हेठी समझता है, उसी प्रकार शक्ति भी बेची जाकर एक लज्जा-जनक वस्तु हो जाती है, और हम उसे छिपाते हैं, उसका चोरी से उपयोग करते हैं कि वह लज्जा दीख न पड़े, हमें और अधिक लज्जित न करे।

गिरीश ने सुना, सब सुना। एक सौदा हुआ था, जिसमें क्रेता अत्यन्त उत्सुक था; विक्रेता पहले असहमत, किन्तु अन्त में, एक लम्बी साँस के साथ अपना विकल्प छोड़कर, विक्रय के लिए तत्पर हो गया था, विनिमय का दिन और समय भी निश्चित हो गया था। वह स्त्री यहीं लक्कड़मण्डी में रहती है, समय पर आ जायगी, विशेष देख-भाल की आवश्यकता है, क्योंकि यह गाँव काफ़ी बदनाम हो चुका है, और यहाँ की स्त्रियों पर, यहाँ आने-जानेवालों पर भी, कड़ी निगाह रखी जाने लगी है; पर वह आयेगी अवश्य; वादा जो किया है।

और गिरीश के मन ने अपनी ओर से जोड़ दिया—'पैसे जो लिये हैं...' क्योंकि उसने रुपयों की—कई एक रुपयों की—खन-खन भी सुनी थी।

गिरीश का सिर झुक गया, दम घुटने-सा लगा। यह है पहाड़ी जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य, जिसे देखने वह आया है, जिसके बूते वह संसार में यशःप्रार्थी होगा, यह--यह--यह, जिसके लिए शब्द नहीं मिलते।

पैरों की चाप--भारी, नीचे की ओर उतरती हुई, चंचल, किन्तु दबी हुई, नंगे पैरों की कोमल और ऐसी जैसे कुछ रुक-रुक-सी रही हो, अनिश्चित-सी। गिरीश ने सिर उठाकर देखा--

सामने वह खड़ी है। उसी दिनवाली स्त्री, वही बैंगनी रंग का रूमाल सिर पर बँधा हुआ, वही कुरता, वही लाल छींट का पैजामा, वही हार, वही झुमके, वही गोदने का बिन्दु-चिह्न और वही आँखें, जो चौंककर उसे देख रही थीं, निर्भीकता से उसकी दृष्टि का सामना कर रही थीं।

गिरीश अपने व्यक्तित्व की सारी शक्ति से उससे आँख मिला रहा था,

अपनी आँखों द्वारा व्यक्त कर रहा था अपना सारा पीड़ित विस्मय, अपनी ग्लानि, अपना तीखा लांछन, अपनी वह अकथ्य भावना, जिससे उसने वह सौदे की बातचीत सुनी थी। वह मानो इस स्त्री को बता देना चाहता था, 'मैंने तुम्हारी बात सुन ली है, मैं उससे दुःखित हूँ, मैं उससे घृणा करता हूँ और मैं तुम्हें उस पथ से हटाना चाहता हूँ।'

और वह शायद यह बता देने में समर्थ भी हुआ। उस स्त्री की दृष्टि क्षण भर के लिए काँपकर झुक भी गई। किन्तु उसके बाद ही उसने सिर उठाया, एक अवज्ञाभरी, दर्पभरी मुद्रा में लाकर हिलाया, जिससे उसके बालों की लट रूमाल के नियन्त्रण से निकलकर, हिलकर मानो बोली—'मैं क्या परवा करती हूँ!' और फिर वह एक अवमानना-भरी हँसी हँसकर चली; किन्तु पाँच-सात कदम जाकर उसने गर्दन घुमाकर देखा, क्षण भर ग्रीवा फेरे हुए ही पीड़ित-सी खड़ी रही, फिर चली गई, अब मानो कुछ शान्त, कुछ संदिग्ध कुछ आहत, कुछ उद्विग्न।

और गिरीश भी एकाएक आवेग में उठा और काग़ज़ उठाकर नीचे की ओर चल पड़ा, उसे मानो अपने सब प्रश्नों के उत्तर मिल गये थे, कितने कठोर उत्तर! सब समस्याओं का समाधान मिल गया था, कैसा उपहास-भरा समाधान!

वह कुछ ही दूर गया था कि सेठ साहब मिल गये, कुछ चौंके, कुछ झेंप-से गये। गिरीश को उस स्त्री के प्रति इतनी ग्लानि हो रही थी कि उसे यह ध्यान ही न आया कि सेठ साहब भी किसी संबन्ध में दोषी हो सकते हैं; वह उनके साथ हो लिया और बातचीत चलाने का ढंग करने लगा। किन्तु इसमें स्वयं अपने को ही असमर्थ पाकर, वह क्षमा माँगकर आगे निकल गया और फिर विचार-सागर में उतराने लगा, उस आघात को मिटाने का यत्न करने लगा, जो उस स्त्री की अवज्ञापूर्ण हँसी ने उसके हृदय पर किया था।

वह सोचने लगा—'हम क्यों एक शारीरिक पवित्रता को इतना महत्त्व देते हैं, विशेषतया जब कि वह पवित्रता एक कृत्रिम बन्धन है? हम एक ओर तो मानते हैं कि कृत्रिम बन्धन सब प्रकार के पतन के मूल हैं, दूसरी ओर हम यह भी मानते हैं कि पवित्रता, व्रत-निष्ठा एक मानसिक या आध्यात्मिक तथ्य है, शारीरिक नहीं; तब फिर क्यों हम एक नकारात्मक शारीरिक पवित्रता को इतना महत्त्व देते हैं कि उसके न होने पर किसी व्यक्ति को नरक का पात्र समझने लग जाते हैं? और विशेषतः स्त्री को?

'क्या ऐसा नहीं हो सकता कि कोई उस शारीरिक नियन्त्रण को उतना महत्त्व न दे, जो कर्मों को करे, जिन्हें हम वर्जित समझते हैं; किन्तु पाप-

भावना से नहीं, केवल इसी लिए कि वह उन्हें इतना महत्त्व नहीं देता, इसी लिए कि वह इतनी छोटी-सी बात के लिए अपनी स्वाभाविक प्रगति को दबाना नहीं चाहता ? यदि कोई ऐसा हो तो हम उसे कैसे दोषी ठहरायें, यह जानते हुए कि पाप वह नहीं है, जो बिना पाप-भावना के किया जाय ?'

'या फिर, क्या यह एक सरलतापूर्ण उदारता नहीं हो सकती, एक उपेक्षा ? बहुधा ऐसा होता है कि कोई हमसे कोई वस्तु माँगता है, और हम उसे दे देते हैं, यह जानकर भी कि उसे नहीं माँगनी चाहिए थी, केवल इसलिए कि हमारे लिए उस वस्तु का कोई महत्त्व नहीं है, हम सोचते हैं कि ऐसी क्षुद्र वस्तु के लिए क्यों किसी का मन दुखाया जाय ?'

एकाएक गिरीश की विचार-धारा रुकी। उसने देखा कि वह भावुकता के आवेश में किधर बहा जा रहा है...किस अकर्मण्य विशृङ्खलता की ओर, जो उदारता की आड़ में फैल रही है। उसने अपनी ग़लती जानी कि जिस विषय की वह आलोचना कर रहा है, उसका उद्भव उन भावनाओं से नहीं हुआ था, जो उन्हें दे रहा है, बल्कि केवल रुपये के लिए, लोभ-संवरण के लिए, यानी रुपये के लिए इन पहाड़ियों का आचार और चरित्र बिकाऊ है।

पर...पहाड़ों ही को देखो, उनका बाह्य आवरण नित्य बदलता है, भ्रष्ट होता है और धुलकर पवित्र हो जाता है; किन्तु उनका अन्तरतम वैसा ही अलग, अकेला और अखण्ड पवित्रता से भरा रहता है। क्या मानव ऐसे नहीं हो सकते ?

पर यह धोखा है! ऐसे तर्क से केवल पतन ही पतन हो सकता है। उन्नति नियम के बिना, एकनिष्ठा के बिना, नहीं होती।

इस तथ्य पर पहुँचकर गिरीश ने अपने विचार स्थिर कर लिये और फिर उससे आगे पहाड़ी जीवन की उन रहस्यमयी घटनाओं पर विचार करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह करुणा के पत्र के बारे में ही सोचने लगा—करुणा अवश्य दुःखी है, नहीं तो इतना उद्वेग-भरा पत्र नहीं लिख सकती थी—विशेषतया इस अवस्था में, जब कि उसने अनेक दिनों से करुणा से कोई व्यवहार नहीं रखा। पर, क्या करुणा का दुःख, उसकी यन्त्रणा और हाँ, उसे अखरनेवाला वह दासत्व भी इस पहाड़ी जीवन से अच्छा नहीं है, इसी पहाड़ी जीवन से, जिसमें करुणा अपने सुख-स्वप्नों का चरम उत्कर्ष देखती है ?

गिरीश ने जाना, उसमें यदि प्रतिभा है, लेखन-शक्ति है, तो वह यहाँ पहाड़ों में वृद्धिगत न होगी; यह उसका क्षेत्र नहीं; वह यहाँ रहकर उस स्वप्न को साकार नहीं बना सकता, जो वह कुछ दिन पहले देख रहा था।

यहाँ, जहाँ के जीवन में प्रतिभा का आहार बिलकुल नहीं मिलता, जहाँ चरित्र घुटकर मर जाता है, और जीती हैं केवल लिप्साएँ, उग्र पाप भावनाएँ, जहाँ के जीवन का सार है ग़रीबी, कायरता, दम्भ और व्यभिचार, जहाँ प्रत्येक वस्तु एक धातु के टुकड़े पर निछावर होती है, जहाँ लोग पर्वतों के मुख को काला कर रहे हैं अपने ओछे, छिछोरे, पतित, निरर्थक जीवन से ! इससे वह दासत्व ही अच्छा, वह भीड़-भड़क्का, वह रोग, पीलापन और घुलती हुई मृत्यु । करुणा रोती है तो उसे रोने दो, वह यदि बलि है तो हमारी सभ्यता की, जिसे बनाये रखना हमारा कर्तव्य है और जिसमें मेरी प्रतिभा का एकमात्र आधार है।

और यह निश्चय करके गिरीश होटल पहुँचा। वहाँ उसने अपना सामान बाँधा और सायंकाल ही को लौट गया—वहीं जहाँ से आया था—अपने संसार के सभ्य जीवन में, जो पहाड़ी जीवन की सभ्यताओं में उलझा हुआ नहीं है, यद्यपि उसमें भीड़ है, और रोग हैं, और घुला मारनेवाली मृत्यु है और है करुणा का रोदन जिसे कोई सुनता ही नहीं।

(३)

और पहाड़ों में यह नित्य ही होता है, शायद दिन में कई बार होता है। नीचे के समतल प्रदेशों से अपनी सभ्यता और शान्ति-रूपी घातक औषधियों द्वारा जीवित रहनेवाले लोग आते हैं—पहाड़ों अपने पर निर्बल हृदय और निर्बलतम पाचनशक्तियाँ लेकर, और लौट जाते हैं भन्नाते हुए मस्तिष्क और मतली से आक्रान्त उदर लेकर।

क्योंकि ये पर्वत—ये मूक, विराट्, अभिमानी और लापरवाह पर्वत—अपना रहस्य खोले नहीं फिरते, अपना हृदय उघाड़कर दिखाते नहीं फिरते, उन्हें वही देख और खोज पाता है, जो उनकी खोज में निरत रहता है, जो उनके लिए अनवरत यत्न करने की क्षमता रखता है, और जो इतना सहिष्णु होता है कि उन्हें देखकर चौंधिया नहीं जाता, अन्धा नहीं हो जाता। पहाड़ कुछ कहते नहीं, उनके जिह्वा है ही नहीं।

और यदि होती भी, तो क्या वे अपना रहस्य कहते? नहीं, वे केवल अपनी प्रशान्त वाणी से कहते, इन सभ्य व्यक्तियों, असंख्य गिरीशों की ओर उन्मुख होकर कहते—

'तुम उनसे भी गये-बीते हो, जो हमारे पास आते हैं, केवल हमारा खोखला बाह्य सौन्दर्य देखने। खोजते हैं केवल रंगों की या ध्वनियों की सफ़ाई और मिठास, सौन्दर्य, सौन्दर्य, सौन्दर्य···क्योंकि वे तो केवल अन्धे ही हैं

और तुम हो जान-बूझकर दृष्टि का दुरुपयोग करनेवाले, उलटा देखनेवाले। वे हैं वैसे लोग जो एक मूर्ति को देखकर उसे केवल पत्थर—एक निरर्थक शिलाखण्ड समझते हैं, किन्तु तुम उनमें से हो जो उसके एक अंश को सूक्ष्म दर्शक यन्त्र से देखकर उसे छिद्रों और सूषियों से भरा पाकर समझते हैं कि वह एक व्रण मात्र है…तुम जा भावुकता से अभिशप्त हो।'

उनकी कहानी की सत्यता फिर भी न कही जाती, वैसी ही रह जाती, केवल पढ़ने की क्षमता रखनेवाले उसे पढ़ते और समझते और पर्वतों से प्रेम करते।

क्योंकि वह है ही अकथ्य, जैसे सभी गहरी बातें अकथ्य होती हैं—गहरा प्रेम, गहरी वेदना, गहरा सौन्दर्य, गहरा आह्लाद, गहरी भूख।

जब एक पहाड़ी घोड़ा न लादने पर पिटता है, और फिर संन्यासी होकर लापता हो जाता है, तब पहाड़ उसकी उस गहरी आत्मग्लानि का चित्र नहीं खींचते जिसके कारण वह ऐसा करने को बाध्य होता है, जिसके कारण वह अपने कुटुम्बियों, अपने बाल-बच्चों का ध्यान भुलाकर, अपने व्यक्तित्व को इसलिए कुचल डालता है कि उस व्यक्तिगत जीवन में केवल परमुखापेक्षा, झुकना, प्रपीड़न और दासत्व की प्रतारणा है, वे चुप ही रह जाते हैं; और जब उसी पहाड़ी की लड़की, अपने पिता को पीटनेवाले के मुख से दर्प और आत्मश्लाघा भरे शब्दों में वही कहानी सुनती है, तब वे किसी से उसके व्यथा-भरे जड़-विस्मय का रहस्य कहने नहीं जाते; जब कोई पहाड़ी, यह समझकर कि लोग उनके घर आते हैं केवल उनकी स्त्रियों को भ्रष्ट करने, उनके भोलेपन से और उनकी नैसर्गिकता से लाभ उठाकर उन्हें पतित और बदनाम करने, उन लोगों के प्रति उपेक्षा का बर्ताव करता है, तब पर्वत किसी देखनेवाले को उस उपेक्षा का कारण नहीं बताते फिरते; जब एक पहाड़ी कन्या अपने शत्रु, अपने पिता के घातक से एक दिन और समय नियत करती है, ताकि वह उससे बदला लेने का उचित उपाय सोच सके, तब वे पर्वत उस कन्या के किसी आलोचक को सत्य का निदर्शन कराने नहीं जाते, उसकी मानसिक प्रगति समझाने की चेष्टा नहीं करते; और अन्त में, जब कोई उनके विषय में अत्यन्त अनुचित, अन्यायपूर्ण भावना लेकर, उनकी विशाल स्वच्छन्दता और शक्तिमत्ता को छोड़कर लौट जाता है अपने घिरे हुए, बँधे हुए, कलुषित, मारक, चूहेदान जैसे संसार मे, तब वे उसे वापस भी नहीं बुलाते। वे उसी भव्य, विराट्, उपेक्षा-पूर्ण कठोर मुस्कराहट से निश्चल आकाश की ओर देखा करते हैं।

क्योंकि उनकी ये सब अनुभूतियाँ वैसी ही अकथ्य हैं, जैसी उनके वृक्षों

में से बहती हुई हवा के संगीत की लय, उनके हिम-शिखरों पर सांध्य-किरणों के नृत्य का उल्लास, उनके वातावरण को दहला देनेवाली बीन की ध्वनि का अभिप्राय, उनकी नग्नता का सौन्दर्य, या एक ही वाक्य में कहें—क्योंकि पहाड़ी जीवन की सम्पूर्णता निरुपम है—अपनी-सी ही गहरी, अपनी-सी ही अकथ्य, अपनी-सी ही अतिशय सुन्दर...

शान्ति हँसी थी

जनवरी १९३५

'जानकीदास, मुजरिम, तुम पर जुर्म लगाया जाता है कि तुमने तारीख १४ दिसम्बर को शाम के आठ बजे हालीवुड पार्क के दरवाज़े पर दंगा किया; और कि तुम्हारी रोज़ी का कोई ज़रिया नहीं है। बोलो, तुम्हें जवाब में कुछ कहना है?'

जवाब के बदले जानकीदास को टुकुर-टुकुर अपनी ओर देखता पाकर न जाने क्यों मजिस्ट्रेट—हाँ, मजिस्ट्रेट—पसीज उठे। उन्होंने कहा, 'जो कुछ तुम्हें जवाब में कहना हो, सोच लो। मैं तुम्हें पाँच मिनट की मोहलत देता हूँ।'

× × ×

पाँच मिनट।

जानकीदास के वज्राहत मन को, मानो कोड़े की चोट-सा, मानो बिच्छू के डंक-सा यह एक फ़िकरा काटने लगा, बताने की फ़िज़ूल कोशिश करने लगा—'पाँच मिनट।'

पाँच मिनट।

जैसे नदी के किनारे पड़ा हुआ कछुआ, पास कहीं खटका सुनकर तनिक-सा हिल जाता है और फिर वैसा ही रह जाता है लौंदा का लौंदा, वैसे ही जानकीदास के मन ने कहा, 'शान्ति हँसी थी', और रह गया।

पाँच मिनट।—

कुछ कहना है अवश्य, सफ़ाई देनी है अवश्य···

पाँच मिनट...

शान्ति हँसी।

कब ? कहाँ ? क्यों हँसी थी ? और कौन है वह, क्यों है, मुझे क्या है उससे ?...

पाँच मिनट...

उसे धीरे-धीरे याद-सा आने लगा। किन्तु याद की तरह नहीं। बुखार के बुरे सपनों की तरह।

× × ×

शान्ति ने रोटी उसके हाथ में थमाकर उसी में भाजी डालते-डालते कहा था, 'इस वक्त तो खा लेते हैं; उस जून मेरी एकादशी है।'

उसने पूछा था, 'क्यों ?'

'क्यों क्या ? तुम्हें खिला दूँगी—' और हँस दी थी।

उस जून के लिए रोटी नहीं है, यह कहने के लिए हँस दी थी।

दोपहर में, सड़कों पर फिरता हुआ जानकीदास सोच रहा था, इतनी बड़ी दुनिया में, इतने कामों से भरी हुई दुनिया में, क्या मेरे लिए कोई भी काम नहीं है ? वह पढ़ा-लिखा था, अपने मा-बाप से अधिक पढ़ा-लिखा था,-पर उन्हें मरते समय तक कभी कष्ट नहीं हुआ था चाहे धनी वे नहीं हुए, तब वह क्यों भूखा मरेगा ? और शान्ति, उसकी बहिन, भी हिन्दी पढ़ी है और काम कर सकती है।

जहाँ-जहाँ से उसे आशा थी, वहाँ सब वह देख चुका था। बल्कि जहाँ आशा नहीं थी, वहाँ भी देख-देखकर वह लौट चुका था।

अब उसे कहीं और जाने को नहीं था—सिवाय 'घर' के। और वहाँ उस जून के लिए रोटी नहीं थी और यह बताने को शान्ति हँसी थी—हँसी थी...

तब तक, भले ही उसके मन में सम्पन्नता का, पढ़ाई का, दरजे का, इज्जत-आबरू का, बुर्जुआ मनोवृत्ति का, कुछ अभिमान, कुछ निशान भी बाकी रहा हो, तब नहीं रहा। उसके लिए कुछ नहीं रहा था। केवल एक बात रही थी कि उन जून के लिए रोटी नहीं है और शान्ति हँसी थी।

राह चलते उसने देखा, दायें ओर एक बड़ा-सा आँगन है, एक भव्य मकान का, जिसमें तीन-चार सुन्दर बच्चे खेल रहे हैं। एक ओर एक लड़की बिना आग के एक छोटे-से चूल्हे पर, लकड़ी की हँड़िया चढ़ाये रसोई पका रही है और खेलनेवाले लड़कों से कह रही है, 'आओ भइया, रोटी तैयार है...'

वह एकाएक आँगन के भीतर हो लिया। लड़के सहमकर खड़े हो गये-शायद उसका मुँह देखकर।

उसने एक लड़के से कहा, 'बेटा, जाकर अपने पिता से पूछ दो, यहाँ कोई पढ़ाने का काम है ?'

लड़के ने कहा, 'हम नहीं जाते। आपही पूछ लो।'

जानकीदास ने दूसरे लड़के से कहा, 'तुम पूछ दोगे ? बड़े अच्छे हो तुम ..'

उस लड़के ने एक बार अपने साथी की ओर देखा, मानो पूछ रहा हो, 'मैं भी ना कह दूँ ?' लेकिन फिर भीतर चला गया, और आकर बोला, 'पिताजी कहते हैं, कोई काम नहीं है।'

जानकीदास ने फिर कहा, 'एक बार और पूछ आओ, कोई जिल्दसाजी का काम है ? या बढ़ई का ? या और कोई ?'

लड़के ने कहा, 'अबकी तो पूछ लेता हूँ, फिर नहीं जाने का।' और भीतर चला गया। आकर बोला, 'पिताजी कहते हैं, यहाँ से चले जाओ। कोई काम नहीं हैं। फ़िजूल सिर मत खाओ।'

जानकीदास बाहर निकल आया।

× × ×

कोई पढ़ाने का काम है ? किसी क्लर्क की ज़रूरत है ? जिल्दसाज की ? बढ़ई की ? रसोइया की ? भिश्ती की ? टहलुए की ? मोची-मेहतर की ?

कोई ज़रूरत नहीं है। सबके अपने-अपने काम हैं, केवल जानकीदास की कोई ज़रूरत नहीं है।

और उस जून खाने को नहीं है, और शान्ति हँसी थी !

× × ×

शाम को हालीवुड पार्क के दरवाज़े के पास जो भीड़ खड़ी थी, उन्हीं में वह भी था। दुनिया है, घर है, शान्ति है, रोटी है, यह सब वह भूल गया था। भूल नहीं गया था, याद रखने की क्षमता, मन को इकट्ठा, अपने वश में, रखने की सामर्थ्य वह खो बैठा था। न उसका कोई सोच था, न उसकी कोई इच्छा थी। यहाँ भीड़ थी, लोग खड़े थे—इसी लिए वह भी था।

भीतर असंख्य बिजली की बत्तियाँ जगमगा रही थीं। बड़े-बड़े झूले, रंग-बिरंगी रोशनी में, किसी स्वप्न-आकाश के तारों-से लग रहे थे। कहीं एक बहुत ऊँचा खम्भा था, जिसकी कुल लम्बाई नीली और लाल लैम्पों से सजी हुई थी। और ऊपर उसके एक तख़्ता बँधा हुआ था।

उसी के बारे में बातें हो रही थीं। और जानकीदास मन्त्र-मुग्ध-सा सुन रहा था। 'वह जो है न खम्भा, उसी पर से आदमी कूदता है। नीचे एक जलता हुआ तालाब होता है, उसी में।'

'उससे पहले दूसरा खेल भी तो होता है, जिसमें कुत्ता कूदता है ?'

'नहीं वह बाद में है। पहले साइकल पर से कूदनेवाला है। वह यहाँ से नहीं दीखता।'

'वह कितने बजे होगा ?'

'अभी थोड़ी देर में होनेवाला है—आठ बजे होता है।'

'यह आवाज़ क्या है ?'

'अरे जो वह गुम्बद में मोटर साइकिल चलाता है उसी की है।'

जानकीदास का अपना कुछ नही था ! इच्छाशक्ति भी नहीं। जो दूसरे सुनते थे, वह उसे सुन जाता था, जो दूसरे देखते थे, वह उसे दीख जाता था।

'वह देखो।'

झूले चलने लगे थे। चरखड़ियाँ घूमने लगी थीं। उन पर बैठे हुए लोग नहीं दीखते थे, पर प्रकाश में कभी-कभी उनके सिर चमक जाते थे और कभी किसी लड़की की तीखी और कुछ डरी-सी हँसी वहाँ तक पहुँच जाती थी—डरी-सी किन्तु प्रसन्न, आमोद-भरी...

जानकीदास देखता था और सुनता था और निश्चल खड़ा भी उत्तेजित हो जाता था। वही क्यों, सारी भीड़ ही धीरे-धीरे उत्तेजित होती जा रही थी।

तभी अन्दर कहीं बिगुल बजा। तीखा। किसी प्रकार की सोच या चिन्ता से मुक्त। पुकारता हुआ।

किसी ने कहा, 'अब होगा साइकलवाला खेल। चलो चलें अन्दर।'

'तुम नहीं चलोगे ?'

'चलो।'

'मैं भी चलता हूँ यार ! यह तो देखना ही चाहिए—'

'आओ न—जल्दी। फिर जगह नहीं रहेगी।'

भीड़ दरवाज़े की ओर बढ़ी। उत्तेजना भी बढ़ी, फैली, फिर बढ़ी।

जानकीदास भी साथ पहुँचा, टिकटघर के दरवाज़े पर।

लोग टिकट लेकर भीतर घुसने लगे। जानकीदास खड़ा देखने लगा।

तभी एक लड़का एक छोटी लड़की का हाथ पकड़े, उसे घसीटता हुआ जल्दी से टिकटघर पर पहुँचा और टिकट लेकर, बड़े उत्तेजित, उत्तेजना से भर्राये हुए स्वर में बोला,—'कमला, अगर देर से पहुँचे तो याद रखना मार डालूँगा ! उमर में एक मौका मिला है—'

आगे जानकीदास नहीं सुन सका। लपककर टिकटघर पर पहुँचा। टिकट माँगी। ली। जेब में डाली। दूसरा हाथ अन्दर की जेब में डाला—पैसे निकालने के लिए—चार आने।

डाला और पड़ा रहने दिया। निकाला नहीं, उत्तेजना टूट गई।

जेब में एक पैसा भी नहीं था।

× × ×

'मुजरिम, तुम्हें कुछ कहना है?'

जानकीदास ने फिर एक बार दीन दृष्टि से मजिस्ट्रेट की ओर देख दिया बोला नहीं। उसका मन कछुए की तरह तनिक और हिलकर बिल्कुल जड़ हो गया।

उस जून उसने नहीं खाई थी, तो शान्ति ने खा ली होगी।

मजिस्ट्रेट साहब सेकण्ड भर सोचकर बोले—'एक साल।'

शान्ति हँसी थी। उस जून के लिए रोटी नहीं है, यह कहने के लिए शान्ति हँसी थी।

सूक्ति और भाष्य

फरवरी १९३५

सूक्ति

सरसों के खेत के किनारे पर बनी हुई ऊँची मुँडेर पर वह बैठी थी, और उससे कुछ एक ओर हटकर दो मोरनियाँ भूमि की ओर ध्यान से झुककर, कुछ खोज रही थीं। कुछ और दूर से, एक मोर गर्दन झुकाये उनकी ओर दौड़ा आ रहा था।

वसन्त तब आ रहा था, आया नहीं था। उस दिन हल्के-हल्के, छितराये हुए बादल थे, धूप नहीं थी।

सांगानेर स्टेशन से कुछ ही इधर वह स्थान था, इसलिए गाड़ी की गति धीमी हो गई थी। गाड़ी की खिड़की में से बाहर देखते हुए सत्य ने यह दृश्य देखा, निश्चय करने की क्रिया में ही घूमकर कैमरा उठाया और चलती गाड़ी में से उतर पड़ा।

सत्य के पीछे कुछ नहीं है, साथ है पर्याप्त साधन, आगे है भविष्य और उसके अरमान। वह विदेशी पत्रों के लिए लेख लिखा करता है, उससे कुछ आमदनी हो जाती है। उस आमदनी पर वह देशाटन करता है, फ़ोटो खींचता है, और उन्हें लेखों के साथ भेजकर और कुछ पाता है।

इस समय वह राज़पूतों के विगत गौरव पर एक लेख तय्यार करने लिए चित्तौड़ जा रहा था, लेकिन राह में एक चित्र की संभावना देखकर, अपने साहसिक स्वभाव के वश, वह उतर पड़ा। उतकर वह सीधा उस लड़की के पास पहुँचा और कैमरा ठीक करने लगा।

लड़की वहाँ से उठी नहीं, बोली भी नहीं, लेकिन अपनी लाल ओढ़नी से उसने मुख ढक लिया और शरमाई-सी देखती रही।

सत्य ने कैमरा ठीक करके जब यह देखा, तो लड़की के फ़ोटो खिंचाने के लिए मनाने की कोशिश में पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है ?"

वह फिर भी नहीं बोली।

सत्य ने कहा, "हम तुम्हारी फ़ोटो खींचेंगे।"

वह मुँह ढके ही ढके बोली, "नहीं खींचोगे।"

सत्य ने हँसकर कहा, "मैं तो खींचने लगा हूँ," और कैमरे की ओर झुका।

वह मुँड़ेर से खिसककर उसी की ओट हो रही।

सत्य एक झल्लाई-सी हँसी हँसा और कैमरा उठाकर मुँड़ेर के पार हो लिया।

वह उठी, और हाथ से मुँह को आधा ढके हुए कि कहीं अनजाने में उसकी फ़ोटो न ले ली जाय, सरसों के खेत में से होती हुई भागी। सत्य एक हाथ से खुला हुआ कैमरा थामे, दूसरे से उसके केस को दबाये हुए, उसके पीछे दौड़ा।

सत्य बहुत तेज़ दौड़ सकता था, पर यहाँ वह स्थान से परिचित और ऐसे रास्ते से अभ्यस्त थी, सत्य अपरिचित और अनभ्यस्त। और फिर पास पहुँचकर कैमरा ठीक करने में भी तो देर लगती! सत्य दौड़ रहा था तो इसी आशा में कि देहाती लड़कियों में (देहाती क्यों सभी लड़कियों में) पौरुष के प्रति सम्मान के साथ ही जो स्वाभाविक हास्य-प्रवृत्ति से उत्पन्न औचित्य का भाव होता है, उसके फल-स्वरूप वह कहीं रुककर कहेगी, "अच्छा लो खींचो!" वह विजय!

पर, इस लड़की के लिए पौरुष का स्टैण्डर्ड शायद बहुत ऊँचा था, वह नहीं रुकी, नहीं रुकी। खेतों के पार एक टीला-सा था, उसके आगे मुड़ते ही, सत्य के देखते-देखते, वह एक झोंपड़े में घुस गई, भीतर के अन्धकार में उसकी आँखों से ओझल हो गई।

सत्य रुक गया। पहले उसे खीझ आई कि व्यर्थ ही वह ट्रेन से उतरा, फिर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और टीले के एक ओर भूमि पर बैठकर कैमरा बन्द करने लगा।

शायद हँसी सुनकर, वह मुँह ढककर बाहर निकल आई। सत्य ने उसे देखकर कहा, "इधर आओ, सुनो।"

उसने एक बार कैमरे की ओर देखा—वह आधा बन्द था—और आगे चली आई।

"तुम फ़ोटो क्यों नहीं खिंचातीं ?",

चुप !

"खिंचा लो तो वह अख़बारों में छपेगी। देश भर के लोग जान जायँगे कि तुम यहाँ रहती हो।"

लेकिन शहर के तर्क गाँव में नहीं चलते। वह फिर चुप।

"डरती हो क्या ? राजपूत होकर ?"

चुप !

सत्य सोचने लगा यह औरत है या दीवार—सभी तरह दुर्भेद्य ! कुछ खिन्न होकर बोला—"फ़ोटो खींच लेने देतीं, वह छप जाती, तो मुझे बीस रुपये मिलते।"

एकाएक उसने कहा—जिस स्वर में कहा, वह सुना ही जा सकता है, बताया नहीं—"बीस रुपये।"

किसी तरह खिंचकर, झकझोरा जाकर, सत्य ने उसकी ओर देखा—उसके मुख की ओर।

ओढ़नी का छोर उसके हाथ से छुट गया था—मुँह उघड़ा हुआ था, और ठोड़ी के पास हाथ जड़-सा रह गया था, उँगलियाँ ऐसे खुली थीं, मानो उनमें प्रेरणा-शक्ति नष्ट हो गई है, फालिज मार गया है।

ओठ खुले थे—"बीस रुपये !"

सत्य की उसकी आँखें मिलीं। सत्य चौंक-सा गया। उसे लगा, उसका मुख जो कह रहा है, और उसकी आँखें जो कह रही हैं, उनमें कुछ विपर्यय है, वे परस्पर-विरोधी हैं। पर नहीं। वह विरोध नहीं है ! मुख पर जो जड़ित विस्मय का भाव है, शब्दों से जो विस्मय, विवश अनुमति, झुकाव प्रकट होता है, आँखें उसका खण्डन नहीं कर रही, उसे स्पष्ट कर र-ी है, उसकी व्याख्या कर रही हैं। शब्द मानो एक गूढ़ सूक्ति है, आँखें उसका विशेष भाष्य।

पर, अजब बात है, सूक्ति तो समझ में आ गई, भाष्य क्या कह रहा है, नहीं समझ में आता, नहीं आता...

उलझन में सत्य की उँगलियाँ कैमरे के किसी बटन से खेलने लगीं। सत्य की आँखें भी उधर गईं—

उसने कहा, "खींचो।"

सत्य ने फिर उसकी ओर देखा। तब वहाँ कुछ नहीं था, न मुख पर वह विस्मय, न आँखों में वह—वह क्या ? जो उसे समझ नहीं आया था। उसके सामने खड़ी थी एक लड़की, साधारण, गम्भीर, स्थिर, अपलक। उसके मुख पर निर्लज्जता नहीं थी, थी वह लज्जा की स्तिमित अनुपस्थिति-सी, जो परदा

करनेवाली स्त्रियों के मुख पर बलात् परदा हटा देने से दीखती है। उघड़े मुखवाली स्त्रियों को लज्जा की जरूरत रहती है, परदेवाली स्त्रियाँ मानो defence का सारा भार उस स्थूल निर्जीव परदे पर ही छोड़े रहती हैं, और यह सीखते उन्हें देर लगती है कि लज्जा देखने की चीज़ है।

यही सब दर्शन बघारता हुआ, सत्य मुस्कराता हुआ उठा। फ़ोटो खींचते समय उसे लगा कि जिस विशेष बात के लिए वह फ़ोटो लेना चाहता था, वह अब इसमें नहीं आ सकती, फिर भी अब तो खींचना ही था।

फ़ोटो खिंचाते ही, इससे पूर्व कि सत्य कुछ कह भी पाये, वह पलटकर झोंपड़ी के भीतर घुस गई। क्षण ही भर बाद, एक बड़ी बूढ़ी-सी औरत ने झोंपड़ी के दरवाज़े पर आकर, अपनी क्षीण आँखों से सत्य की ओर संदिग्ध दृष्टि से देखा, फिर झोंपड़े का द्वार बन्द कर लिया।

सत्य ने जाना कि कहानी आधे में ही समाप्त हो गई और आगे नहीं चल सकती। वह थोड़ा-सा मुस्कराया और स्टेशन की ओर चल पड़ा।

कहानी आगे तो चल ही नहीं सकती, इसलिए वह जल्दी-जल्दी उसे भुलाने लगा। उसकी घुमक्कड़, भावुक, सौन्दर्य-पूजक प्रकृति में वह चीज—गुण या दोष—थी, जो राह चलते प्यार कर सकती है और स्वाभाविक फल—राह चलते भूल सकती है।

"बाबू साहब, हमारी तस्वीर उतारो !"

सत्य ने चौंककर देखा, एक हट्टा-कट्टा पठान, अपनी काली दाढ़ी की नोक का एक बाल दो उँगलियों से पकड़े, उसकी ओर देखता चला आ रहा है। उसकी गिद्ध की-सी तीखी और शायद उतनी ही क्रूर आँखों में एक उपहास भरी-सी हँसी है, जो आँखों तक ही सीमित है, उसके झुर्रियों पड़े मुख पर नहीं आई।

सत्य ने उसे जल्दी से सिर से पैर तक देख डाला। तुर्रेदार पगड़ी, तेलसने पट्टे, दो-एक हज़ार बटनों से सजी हुई काली मख़मल की वास्केट, लम्बा कुरता, मैली, पर ख़ूब खुली-खुली, फूली हुई सलवार जिससे पैर के चप्पल छिप जायँ, हाथ में लाठी यानी सिर से पैर तक पठान—वैसा पठान जैसा विदेशी पत्रों में दिखाया जाता है, जो प्रभावित करता है कि भारत के सीमाप्रान्त की रक्षा के लिए ब्रिटिश राज्य आवश्यक है, जिसके लिए विदेशी पत्र पैसे देते हैं।

सत्य ने कहा, "हाँ, तस्वीर उतारूँगा !" और उसके अतिरिक्त सब कुछ भूल गया।

भाष्य

वह चित्तौड़ से लौट रहा था।

बहुत-से चित्र उसने एकत्र कर लिये थे और सोच रहा था कि बहुत दिनों के लिए वे पर्याप्त होंगे। और चित्रों के साथ ही वह मानो उस वीरभूमि, सूखी, नंगी, प्यासी और कठोर भूमि की एक छाया-सी लिये जा रहा था, जो उसे लिखने में सहायक होगी, जिसके आसरे वह उस विगत गौरव को जगा सकेगा, विदेशी पाठकों पर प्रकट कर सकेगा, उन्हें वह रोमाञ्चकारी अनुभूति दे सकेगा जिसकी वे हमसे अपेक्षा रखते हैं, जिसके लिए वे हमारे देश को मात्र east न कहकर orient कहते हैं...

और वह लड़की? उसे वह भूल गया था। उसका स्थान इस विराट् स्वप्न में नहीं था—राह चलते वह कहाँ-कहाँ ठहर सकता है?

लेकिन जब गाड़ी साँगानेर से चली, तब एकाएक उसे जान पड़ा, वह वहाँ रुके बिना रह ही नहीं सकता, रह ही नहीं सकता। वह फिर उतर पड़ा और स्टेशन से बाहर उस मुँड़ेर की ओर चल पड़ा।

राह में झोंपड़ा पड़ता था, लेकिन वह जान-बूझकर, झोंपड़े से बचता हुआ मुँड़ेर की ओर चला। उसे पूरी आशा थी कि जो कुछ देखने वह जा रहा है, वह मुँड़ेर पर ही दीख सकता है। उस जैसी प्रकृतियों में जो अहंमन्यता होती है, वह उसमें भी थी। वह स्वप्न को छोड़कर जा सकता है, पर स्वप्न भी उसे छोड़कर जाने की धृष्टता कर सकता है, यह वह नहीं जानता था।

तभी, जब मुँड़ेर पर उसने कुछ नहीं पाया, तब उसे धक्का-सा लगा; उसे लगा, विशेष उसी को संकेत करके यह insult दिया गया है। वह कुछ क्रुद्ध-सा झोंपड़े की ओर चला।

झोंपड़े पर पहुँचकर उसने देखा, वह भी खाली था।

तब वह एकाएक भूमि पर बैठ गया। उसे लगा, उसका कुछ बहुत अपना, शरीर के एक अवयव की तरह प्रिय और आवश्यक, खो गया है।

थोड़ी देर बाद वह उठा, उठकर झोंपड़े के दो चक्कर लगा आया और वहीं आकर बैठ गया। झोंपड़ा फिर भी उतना ही खाली रहा।

अभी आध घण्टा पहले उसके लिए यह झोंपड़ा न कुछ के बराबर था, अभी आध घण्टे बाद फिर न कुछ रह जायगा, पर इस क्षण वह अपनी सारी शक्ति से उस झोंपड़े से कुछ माँग रहा है, वह क्यों नहीं है वहाँ पर? यह

असह्य था उसके लिए, इतनी बड़ी चोट, इतना रूखा तिरस्कार, कभी उसकी अहन्ता को नहीं मिला था...

तभी वह पूछ-ताछ करने के लिए गया। कुछ दूर एक और झोंपड़ा था जहाँ उसने पड़ताल आरम्भ की। और वहीं वह समाप्त हो गई। जो कुछ वह जान पाया वह यों है :—

उस झोंपड़े में एक बहुत बूढ़े माता-पिता और उनकी एकमात्र कन्या (नाम जसुमती) रहते थे। पास का एक खेत भी उनका था, जिसमें वे सरसों बोते थे। मानी बात है कि वैसे रूखे, नंगे देश में इससे जीविका चलना असम्भव है, पर यह भी प्रकट है कि वहाँ और कुछ काम भी नहीं था, शहर होता तो मजूरी हो सकती थी, वहाँ कहाँ ? तो (आप कहेंगे, वही पुरानी बात !) उन्होंने एक पठान से दस रुपये कर्ज़ लिये थे ; और उसे ही कभी उतार देने की आशा पर जी रहे थे। दो आने रुपया महीना के हिसाब से, वह अब तक पाँच बार दिया जाकर भी अब पँचगुना था—मूल चुका देने की आशा कभी उन्होंने की भी होती, पर सूद कौन चुका सकता ! और वे कभी सोचा करते थे, दस रुपये लेकर किसी के नाम जो काल्पनिक तोड़ा जमा किया जा सकता है, वही दस रुपये देकर वे पा सकते, तो शायद चोरी करके ही दस रुपये ले आते, या अपने को ही बेच लेते ! ख़ैर, हुआ वही जो होना था—एक दिन पठान ने आकर उनका खेत, झोंपड़ा वग़ैरह सब कुर्क़ करा लिया, उन्हें निकलवा दिया।

वे कहाँ गये ? पता नहीं। किसी शहर की ओर गये होंगे मजूरी कमाने। या...

चलते-चलते उसे यह भी मालूम हुआ कि पठान ने बड़ी उदारता से यह भी प्रस्ताव किया था कि यदि जसुमती के पिता मान जायें, तो वह झोंपड़ा वग़ैरह सब रहने देगा, और कर्ज़ भी बाक़ी सब माफ़ कर देगा—वे मान जायें सही। लेकिन...

लेकिन कुछ नहीं, उस सूखी, नंगी, प्यासी और कठोर भूमि का अदम्य अभिमान...बूढ़े माता-पिता का क्षीण शरीर क्रोध से काँप गया था...

पर इस सबसे क्या ? वहाँ था अब कुछ नहीं—

सत्य फिर वहीं मुँडेर पर पहुँचा। उसी जगह को खोजकर, जहाँ उस दिन जसुमति बैठी थी, बैठ गया। कैमरा पैरों के पास धरकर, शून्य दृष्टि से रेल की ओर देखने लगा।

एकाएक जसुमति के शब्द उसके कानों में गूँज गये, एकाएक उसकी आँखें उसके आगे नाच गईं, एकाएक उन आँखों में छिपी बात उसे दीख गई...

"बीस रुपये !"

"बीस रुपये के लिए तुम फ़ोटो से कहीं अधिक कुछ माँग सकते थे—कहीं अधिक कुछ..."

वह खड़ा हो गया। आवेश में, वह अपने को गालियाँ देने लगा, सारे व्यक्तित्व की शक्ति बटोरकर घोर, भयंकर, रौद्र शाप देने लगा,—"बेवकूफ़ ! बेवकूफ़ ! अकथ्य-अक्षम्य-जड़मति-बेवकूफ़ !"

लेकिन क्या बेवकूफी उसने की थी, वह नहीं जानता था। और जानता तो अपने आगे भी स्वीकार करने को वह तैयार होता, इसमें संदेह है।

तभी उसे ध्यान हुआ, आध घण्टे में सांगानेर से दूसरी गाड़ी चलती है।

इन्दु की बेटी

१९३७

जब गाड़ी खचाखच लदी होने के कारण मानो कराहती हुई स्टेशन से निकली, तब रामलाल ने एक लम्बी साँस लेकर अपना ध्यान उस प्राण ले लेनेवाली गर्मी, अपने पसीने से तर कपड़ों, और साथ बैठे हुए नंगे बदनवाले गँवार के शरीर की बू से हटाकर फिर अपने सामने बैठी हुई अपनी पत्नी की ओर लगाया ; और उसकी पुरानी कुढ़न फिर जाग उठी।

रामलाल की शादी हुए दो बरस हो चले हैं। दो बरस में शादी का नयापन पुराना हो जाता है, तब गृहस्थ-जीवन का सुख नयेपन के अलावा जो दूसरी चीजें होती हैं, उन्हीं पर निर्भर करता है। मातृत्व या पितृत्व की भावना, समान रुचियाँ, इकट्ठे बिताये हुए दिनों की स्मृतियाँ, एक दूसरे को पहुँचाये गये सुख-क्लेश की छाप—नयापन मिट जाने के बाद ये और ऐसी चीज़ें ही वे ईंटें होती हैं, जिनसे गृहस्थी की भीत खड़ी होती है। और रामलाल के जीवन में ये सब जैसे थे ही नहीं। उसके कोई सन्तान नहीं थी, जहाँ तक उसके दाम्पत्य-जीवन के सुख-दुःख की उसे याद थी, वहाँ तक उसे यही दीखता था कि उन्होंने एक दूसरे को कुछ दिया है तो क्लेश ही दिया है। इससे आगे थोड़ी-बहुत मामूली सहूलियत एक दूसरे के लिए पैदा की गई है, लेकिन उसका शिक्षित दिमाग़ उन चीज़ों को सुख कहने को तैयार नहीं है। उदाहरणतया वह कमाकर कुछ लाता रहा है, और स्त्री रोटी पकाकर देती रही है, कपड़े धोती रही है, झाड़ू लगाती रही है, चक्की भी पीसती रही है। क्या इन चीज़ों का नाम सुख है? क्या इसने शादी इसलिए की थी कि एक महरी उसे मिल जाय और वह ख़ुद एक दिन से दूसरा दिन करने की

चख-चख से बच जाय और बस ? क्या उसने बी० ए० तक पढ़ाई इसी लिए की थी कि हर महीने बीस-एक रुपल्लियाँ कमाकर इसके आगे लाकर पटक दिया करे कि ले इस कबाड़खाने को संभाल और इस ढाबे को चलता रख !—इस गँवार, अनपढ़, बेवकूफ़ औरत के आगे जो चक्की पीसने और झाड़ू लगाने से अधिक कुछ नहीं जानती और यह नहीं समझती कि एक पढ़े-लिखे आदमी की भूख दो वक्त की रोटी के अतिरिक्त कुछ और भी माँगती है ?

उसकी खीझ एकाएक बढ़कर क्रोध बन गई। स्त्री की ओर से आँख हटा कर वह सोचने लगा, इसका यह नाम किसने रखा ? इन्दु। कैसा अच्छा नाम है—जाने किस बेवकूफ़ ने यह नाम इसे देकर डुबाया ! और कुछ नहीं तो सुन्दर ही होती, रंग ही कुछ ठीक होता।

लेकिन जब यह पहले-पहल मेरे घर आई थी, तब तो मुझे इतनी बुरी नहीं लगी थी ? क्यों मैंने इसे कहा था कि मैं अपने जीवन का सारा बोझ तुम्हें सौंपकर निश्चिन्त हो जाऊँगा—कैसे कह पाया था कि जो जीवन मुझसे अकेले चलाये नहीं चलता, वह तुम्हारा साथ पाकर चल जायगा ? पर मैं तब इसे कब जानता था—मैं तो समझता था कि—

रामलाल ने फिर एक तीखी दृष्टि से इन्दु की ओर देखा और फ़ौरन आँखें हटा लीं। तत्काल ही उसे लगा कि यह अच्छा हुआ कि इन्दु ने वह दृष्टि नहीं देखी। उसमें कुछ उस अहीर का-सा भाव था जो मण्डी से एक हट्टी-कट्टी गाय खरीदकर लाये और घर आकर पाये कि यह दूध ही नहीं देती।

तभी गाड़ी की चाल फिर धीमी हो गई। रामलाल अपने पड़ोसी गँवार की ओर देखकर सोच ही रहा था कि कौन-सी वीभत्स गाली हरेक स्टेशन पर खड़ी हो जानेवाली इस मनहूस गाड़ी को दे, कि उसकी स्त्री ने बाहर झाँककर कहा—"स्टेशन आ गया।"

रामलाल की कुढ़न फिर भभक उठी। भला यह भी कोई कहने की बात है ? कौन गधा नहीं जानता कि स्टेशन आ रहा है ? अब क्या यह भी सुनना होगा कि गाड़ी रुक गई। गार्ड ने सीटी दी। हरी झण्डी हिल रही है। गाड़ी ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी...

लेकिन मैं इस पर क्यों खीझता हूँ ? इस विचारी का दिमाग़ जहाँ तक जायगा, वहीं तक की बात वह करेगी न ? अब मैं उससे आशा करूँ कि इस समय वह मेघदूत मुझे सुनाने लग जाय और वह इस आशा को पूरा न करे तो उसका क्या कसूर है ?

लेकिन मैंने उसे कभी कुछ कहा है ? चुपचाप सब सहता आया हूँ। एक

भी कठोर शब्द उसके प्रति मेरे मुँह से निकला हो तो मेरी ज़बान खींच ले। आख़िर पढ़-लिखकर इतनी भी तमीज़ न आई तो पढ़ा क्या ख़ाक? समझदार का काम है सहना। मैंने उससे प्यार से कभी बात नहीं की; लेकिन जो बात हृदय में नहीं है, उसका ढोंग करना नीचता है। क्रोध को दबाने का यह मतलब थोड़े ही है कि झूठमूठ का प्यार दिखाया जाय?

गाड़ी रुक गई। इन्दु ने बाहर की ओर देखते-देखते कहा,—'प्यास लगी है…'

रामलाल को वह स्वर अच्छा नहीं लगा। उसमें ज़रा भी तो आग्रह नहीं था कि हे मेरे स्वामी, मैं प्यासी हूँ, मुझे पानी पिला दो? सीधे शब्दों में कहा नहीं तो ख़ैर, पर वहाँ तो ध्वनि भी नहीं है। ऐसा कहा है जैसे "मैं जता देती हूँ कि मैं प्यासी हूँ—आगे कोई पानी ला देगा तो मैं पी लूँगी। नहीं तो ऐसे भी काम चल जायगा। इतनी मैं किसके लिए हूँ कि पानी लाने के लिए कह सकूँ!" फिर भी रामलाल ने लोटा उठाया, बाहर झाँका और यह देखकर कि गाड़ी के पिछले सिरे के पास प्लेटफार्म पर कुछ लोग धक्कमधक्का कर रहे हैं और एक-आध जो ज़रा अलग हैं, कान में टँगा हुआ जनेऊ उतार रहे हैं, वह उतरकर उधर को चल पड़ा।

वह मुझे कह ही देती कि पानी ला दो, तो क्या हो जाता? मैं, जो कुछ बन पड़ता है, उसके लिए करता हूँ। अब अधिक नहीं कमा सकता तो क्या करूँ! गाँव में गुञ्जाइश ही इतनी है। अब शहर में शायद कुछ हो—पर शहर में ख़र्च भी होगा।

मैं ख़र्च की परवाह न करके उसे अपने साथ लिये जा रहा हूँ—और होता तो गाँव में छोड़ जाता—शहर में अकेला आदमी कहीं भी रह सकता है, पर गिरस्थी लेकर तो…और उसे इतना ख्याल नहीं कि ठीक तरह बात ही करे—बात तो क्या करे, रोटी-पानी, पैसा माँग ही ले! क्या निकम्मेपन में भी अभिमान होता है!

रामलाल नल के निकट पहुँच गया।

(२)

गाड़ी ने सीटी दी और चल दी। रामलाल को यह नहीं सुनना पड़ा कि "हरी झण्डी हिल रही है—गाड़ी चली…" इन्दु ने कहा भी नहीं। गार्ड की सीटी हो जाने पर भी जब रामलाल नहीं पहुँचा, तब इन्दु खिड़की के बाहर झुककर उत्कण्ठा से उधर देखने लगी, जिधर वह गया था। गाड़ी चल पड़ी, तब उसकी उत्कण्ठा घोर व्यग्रता में बदल गई। लेकिन तभी उसने

देखा, एक हाथ में लोटा थामे रामलाल दौड़ रहा है। वह अपने डिब्बे तक तो नहीं पहुँच सकेगा, लेकिन पीछे के किसी डिब्बे में शायद बैठ जाय।

इन्दु ने देखा कि रामलाल ने एक डिब्बे के दरवाज़े पर आकर हैण्डल पकड़ लिया है और उसी के सहारे दौड़ रहा है, लेकिन गाड़ी की गति तेज़ होने के कारण अभी चढ़ नहीं पाया। कहीं वे रह गये तब ? क्षण भर के लिए एक चित्र उसके आगे दौड़ गया—परदेश में वह अकेली—पास पैसा नहीं, और उससे टिकट तलब किया जा रहा है और वह नहीं जानती कि पति को कैसे सूचित करे कि वह कहाँ है। लेकिन क्षण ही भर में इस डर का स्थान एक दूसरे डर ने ले लिया। कहीं वे उस तेज़ चलती हुई गाड़ी पर सवार होने के लिए कूदे और—···यह डर उससे नहीं सहा गया। वह जितना बाहर झुक सकती थी, झुककर रामलाल को देखने लगी—उसके पैरों की गति को देखने लगी···और उसके मन में यह होने लगा कि क्यों उसने पति से प्यास की बात कही—यदि कुछ देर बैठी रहती तो मर न जाती···

एकाएक रामलाल गाड़ी के कुछ और निकट आकर कूदा। इन्दू ज़रा और झुकी कि देखे, वह सवार हो गया कि नहीं और निश्चिन्त हो जाय। उसने देखा—

अन्धकार—कुछ डूबता-सा—एक टीस—जाँघ और कन्धे में जैसे भीषण आग—फिर एक दूसरे प्रकार का अन्धकार।

गाड़ी मानों विवश क्रोध से चिचियाती हुई रुकी कि अनुभूतियों से बँधे हुए इस क्षुद्र चेतन संसार की एक घटना के लिए किसी ने चेन खींचकर उस जड़, निरीह और इसलिए अडिग शक्ति को क्यों रोक दिया है।

गाड़ी के रुकने का कारण समझने उतरने से पहले ही रामलाल ने डिब्बे तक आकर देख लिया कि इन्दु उसमें नहीं है।

(३)

रेल का पहिया जाँघ और कन्धे पर से निकल गया था। एक आँख भी जाने क्यों बन्द होकर सूज आई थी—बाहर कोई चोट दीख नहीं रही थी—और केश लहू में सनकर जटा-से हो गये थे।

रामलाल ने पास आकर देखा और रह गया! ऐसा बेबस, पत्थर रह गया कि हाथ का लोटा भी गिरना भूल गया।

थोड़ी देर बाद जब ज़रा काँपकर इन्दु की एक आँख खुली और बिना किसी की ओर देखे ही स्थिर हो गई और क्षीण स्वर ने कहा, "मैं चली," तब रामलाल को नहीं लगा कि वे दो शब्द विज्ञप्ति के तौर पर कहे गये हैं—

उस लगा कि उनमें खास कुछ है, जैसे वह किसी विशेष व्यक्ति को कहे गये हैं, और उनमें अनुमति माँगने का-सा भाव है…

उसने एकाएक चाहा कि बढ़कर लोटा इन्दु के मुँह से छुआ दे, लेकिन लोटे का ध्यान आते ही वह उसके हाथ से छूटकर गिर गया।

रामलाल उस आँख की ओर देखता रहा, लेकिन वह फिर झिपी नहीं। गाड़ी चली गई। थोड़ी देर बाद एक डाक्टर ने आकर एक बार शरीर की ओर देखा, एक बार रामलाल की ओर, एक बार फिर उस खुली आँख की ओर, और फिर धीरे से पल्ला खींचकर इन्दु का मुँह ढँक दिया।

(४)

गाड़ी ज़रा-सी देर रुककर चली गई थी। दुनिया ज़रा भी नहीं रुकी। गाड़ी आदमी की बनाई हुई थी, दुनिया का बनानेवाला ईश्वर है।

बीस साल हो गये। घिरती रात में हरेक स्टेशन पर रुकनेवाली एक गाड़ी के सेकण्ड क्लास डिब्बे में रामलाल लेटा हुआ था। वह कलकत्ते से रुपया कमाकर लौट रहा था। आज उसके मन में गाड़ी पर खीझ नहीं थी—आज वह यात्रा पर जा नहीं रहा था, लौट रहा था। और वह थका हुआ था।

एक छोटे स्टेशन पर वह एकाएक भड़भड़ाकर उठ बैठा। बाहर झाँककर देखा, कहीं कोई कुली नहीं था। वह स्वयं बिस्तर और बैग बाहर रखने लगा। तभी, स्टेशन के पाइंटमैन ने आकर कहा, "बाबूजी, कहाँ जाइएगा?" छोटे स्टेशनों पर लाइनमैन और पाइंटमैन ही मौके-बे-मौके कुली का काम कर देते हैं। रामलाल ने कहा, "यहीं एक तरफ़ करके रख दो।"

"और कुछ सामान नहीं है ?"

"बाकी ब्रेक में है, आगे जायगा।"

"अच्छा।"

गाड़ी चली गई। बूढ़े पाइंटमैन ने सामान स्टेशन के अन्दर ठीक से रख दिया। रामलाल बेंच पर बैठ गया। स्टेशन के एक कोने में एक बड़ा लैम्प जल रहा था, उसकी ओर पीठ करके जाने क्या सोचने लग गया, भूल गया कि कोई उसके पास खड़ा है।

बूढ़े ने पूछा, "बाबूजी, कैसे आना हुआ?" ऐसा बढ़िया सूट-बूट पहननेवाला आदमी उसने उस स्टेशन पर पहले नहीं देखा था।

"योंही।"

"ठहरिएगा?"

"नहीं। अगली गाड़ी कब जाती है?"

"कल सबेरे। उसमें जाइएगा?"

"हाँ।"

"इस वक्त बाहर जाइएगा?"

"नहीं।"

"लेकिन यहाँ तो वेटिंगरूम नहीं है—"

'यहीं बेंच पर बैठा रहूँगा।'

बूढ़ा मन में सोचने लगा, यह अजब आदमी है जो बिना वजह रातभर यहाँ ठिठुरेगा और सबेरे चला जायगा! पर अब रामलाल प्रश्न पूछने लगा:—

"तुम यहाँ कब से हो?"

"अजी क्या बताऊँ—सारी उमर ही यहीं कटी है।"

"अच्छा? तुम्हारे होते यहाँ कोई दुर्घटना हुई?"

"नहीं—" कहकर बूढ़ा रुक गया। फिर कहने लगा, "हाँ, एक बार एक औरत रेल के नीचे आकर कट गई थी। उधर प्लेटफार्म से ज़रा आगे।"

"हूँ।" रामलाल के स्वर में जैसे अरुचि थी, लेकिन बूढ़ा अपने आप ही उस घटना का वर्णन करने लगा।

"कहते हैं, उसका आदमी यहाँ पानी लेने के लिए उतरा था, इतनी देर में गाड़ी चल पड़ी। वह बैठने के लिए गाड़ी के साथ दौड़ रहा था, औरत झाँककर बाहर देख रही थी कि बैठ गया या नहीं, तभी बाहर गिर पड़ी और कट गई।"

"हूँ।"

थोड़ी देर बाद बूढ़े ने फिर कहा—"बाबूजी, औरत जात भी कैसी होती है। भला वह गाड़ी से रह जाता, तो कौन बड़ी बात थी? दूसरी में आ जाता। लेकिन औरत का दिल कैसे मान जाय—"

रामलाल ने जेब से चार आने पैसे निकालकर उसे देते हुए संक्षेप में कहा—"जाओ।"

"बाबूजी—"

रामलाल ने टाँगें बेंच पर फैलाते हुए कहा—"मैं सोऊँगा।"

बूढ़ा चला गया। जाता हुआ स्टेशन का एकमात्र लैम्प भी बुझा गया—अब उसकी कोई ज़रूरत नहीं थी।

रामलाल उठकर प्लेटफ़ार्म पर टहलने लगा और सोचने लगा…

उसने पानी नहीं माँगा था, लेकिन अगर मैंने ही कह दिया होता कि मैं अभी लाये देता हूँ पानी, तो—तो—

आदमी जब चाहता है जीवन के बीस वर्षों को बीस मिनट—बीस सेकण्ड में जी डालना; और वह बीस सेकण्ड भी ऐसे जो आज के नहीं हैं, बीस वर्ष पहले के हैं, मर चुके हैं, तब उसकी आत्मा का अकेलापन कहा नहीं जा सकता, अँधेरे में ही कुछ अनुभव किया जा सकता है···

(५)

रामलाल स्टेशन का प्लेटफ़ार्म पार करके रेल की पटरी के साथ हो लिया। एक सौ दस क़दम चलकर वह रुका और पटरी की ओर देखने लगा। उसे लगा, पटरी के नीचे लकड़ी के स्लीपरों पर जैसे खून के पुराने धब्बे हैं। वह पटरी के पास ही बैठ गया। लेकिन बीस वर्ष में तो स्लीपर कई बार बदल चुकते हैं। ये धब्बे खून के हैं, या तेल के ?

रामलाल ने चारों ओर देखा। वही स्थान है—वही स्थान है। आस-पास के दृश्य से अधिक उसका मन गवाही देता है।

और रामलाल घुटनों पर सिर टेककर, आँखें बन्द करके पुराने दृश्यों को जिलाता है। वह कठोर एकाग्रता से उस दृश्य को सामने लाना चाहता है—नहीं, सामने आने से रोकना चाहता है—नहीं, वह कुछ भी नहीं चाहता, वह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है। या नहीं चाहता है। उसने अपने आपको एक प्रेत को समर्पित कर दिया है। जीवन में उससे खिंचे रहने का यही एक प्रायश्चित्त उसके पास है। और इस समय स्वयं मिट्टी होकर, स्वयं प्रेत होकर, वह मानो उससे एक हो लेना चाहता है, उससे कुछ आदेश पा लेना चाहता है···

जाने कितनी देर बाद वह चौंकता है। सामने कहीं से रोने की आवाज़ आ रही है। एक औरत के रोने की। रामलाल उठकर चारों ओर देखता है, कहीं कुछ नहीं दीखता। आवाज़ निरन्तर आती है। रामलाल आवाज़ की ओर चल पड़ता है—जो स्टेशन से परे की ओर है···

इन्दु कभी रोई थी ? उसे याद नहीं आता। लेकिन यह कौन है जो रो रहा है ? और इस आवाज़ में यह कशिश क्यों है···

"कौन है ?"

कोई उत्तर नहीं मिलता। दो-चार क़दम चलकर रामलाल कोमल स्वर में फिर पूछता है, "कौन रोता है ?"

रेल की पटरी के पास से कोई उठता है। रामलाल देखता है—किसी गाढ़े

रंग के आवरण में बिलकुल लिपटी हुई एक स्त्री उसे पास आता देखकर जल्दी से एक ओर को चल देती है और क्षण भर में झुरमुट की ओट हो जाती है। रामलाल पीछा भी करता है, लेकिन अन्धकार में पीछा करना व्यर्थ है—कुछ दीखता ही नहीं।

रामलाल पटरी की ओर लौटकर वह स्थान खोजता है, जहाँ वह बैठी थी।

क्या यहीं पर ? नहीं, शायद थोड़ा और आगे। यहाँ पर ? नहीं, थोड़ा और आगे

उसका पैर किसी गुदगुदी चीज़ से टकराता है। वह झुककर टटोलता है—एक कपड़े की पोटली। बैठकर खोलने लगता है। पोटली चीख उठती है। काँपते हाथों से उठकर वह देखता है, पोटली एक छोटा-सा शिशु है जिसे उसने जगा दिया है।

वह शिशु को गोद में लेकर थपथपाता हुआ स्टेशन लौट आता है और बेंच पर बैठ जाता है। घड़ी देखता है, तीन बजे हैं। पाँच बजे गाड़ी मिलेगी। अपने ओवरकोट से वह बच्चे को ढँक लेता है—दो घण्टे के लिए इतना प्रबन्ध काफ़ी है। गाड़ी में बिस्तर खोला जा सकेगा•••

(६)

रामलाल ने अपने गाँव में एक पक्का मकान बनवा लिया है और उसी में रहता है। साथ रहती है वह पाई हुई शिशु-कन्या जिसका नाम उसने इन्दु-कला रखा है, और उसकी आया, जो दिन भर उसे गाड़ी में फिराया करती है।

गाँव के लोग कहते हैं कि रामलाल पागल है। पैसेवाले भी पागल होते हैं। और इन्दु जहाँ-जहाँ जाती है, वे उँगली उठाकर कहते हैं—"वह देखो उस पागल बूढ़े की बेटी!" इसमें बड़ा गूढ़ व्यंग्य होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि बूढ़ा रामलाल किसी के पाप का बोझ ढो रहा है। लेकिन रामलाल को किसी की परवाह नहीं है। वह निर्द्वन्द्व है। उसके हृदय में विश्वास है। वह ख़ूब जानता है कि उसकी क्षमाशीला इन्दु ने स्वयं प्रकट होकर अपने स्नेह-पूर्ण अनुकम्पा के चिह्न-स्वरूप अपना अंश और प्रतिरूप वह बेटी उसे भेंट की थी।

———

नई कहानी का प्लॉट

नवम्बर १९३६

रात के ग्यारह बजे हैं; लेकिन दफ़्तर बन्द नहीं हुआ है। दो-तीन चरमराती हुई लँगड़ी मेज़ों पर सिर झुकाये, बायें हाथ से अपनी तकदीर पकड़े और दायें से क़लम घिसते हुए कुछ-एक प्रूफरीडर बैठे हैं। उनके आगे, दायें,बायें, सब ओर काग़ज़ों का ढेर लगा है, जो अगर फ़र्श पर होता, तो कूड़ा कहलाता; लेकिन मेज़ पर पड़ा होने की वजह से 'कापी', या 'गेली', था 'आर्डरी' कहलाने का गौरव पाता है।

दफ्तर से परे हटकर दूसरे लम्बे-से कमरे में बिजली के प्रकाश में कम्पोज़िटर अपनी उलटे अक्षरों की दुनिया में मस्त हैं। पीछे प्रेस की गड़गड़ाहट के मारे कान बहरे हो रहे हैं।

और कम्पोज़िंग रूम के बाहर बरामदे में सम्पादकजी टहल रहे हैं। माथे पर झुर्रियाँ पड़ी हैं, कमर के पीछे टिके हुए एक हाथ में स्लिपों की पैड है, दूसरे में पेंसिल। सम्पादकजी बैठकर काम करनेवाले जीव हैं; लेकिन आज वे बैठे नहीं हैं। आज उनसे बैठा नहीं जा रहा है। आज सम्पादकजी व्यस्त हैं, सन्त्रस्त हैं।

विशेषाङ्क निकल रहा है। शुरू के पेजों में एक कहानी देनी है। लेकिन अच्छी कहानी कोई है नहीं। क्या करूँ? दो सड़ी-सी कहानियाँ हैं, जो देने के काबिल नहीं हैं। लेकिन देनी तो होंगी। आग्रह करके मँगाई हैं। नख़रे करके भेजी हैं। लक्ष्मीकान्त 'शारदा' का सम्पादक है, उसकी कहानी, मँगाकर न छापूँगा तो जान को आ जायगा। आलोचना में वैर निकालेगा

फ़ोटो भी छपायेगा, पैसे भी लेगा, उस पर देगा यह सड़ी-सी चीज़! नाली की दुर्गन्ध आती है। आख़िरी पेजों में सही''लेकिन पहली कहानी—कहानी तो चाहिए। कहाँ से लाऊँ, क्या करूँ?

लेखक बहुत हैं। मर गये लेखक। क़म्बख़्त वक्त पर काम न आये तो क्या करूँ—आग लगाऊँ?

लेकिन—पहली कहानी। क्या करूँ? ख़ुद लिखूँ? लेकिन—पहले ही मैं? दीवालियापन? लेकिन...

एकाएक घूमकर सम्पादकजी ने आवाज़ दी—"लतीफ़! ओ मियाँ अब्दुल लतीफ़!"

मियाँ लतीफ़ आकर सम्पादकजी के सामने खड़े हो गये। उन्होंने न आवाज़ का जवाब दिया था, न अब बोले। सिर्फ़ सामने आकर खड़े हो गये।

"देखो लतीफ़, एक कहानी चाहिए। कल सवेरे तक।"

"जी, लेकिन—"

"कल सवेरे तक। एक कहानी दो पेज। दूसरा फ़रमा।" कहकर सम्पादकजी ने और भी व्यस्तता दिखाते हुए टहलाई पुनः जारी करने के लिए मुँह मोड़ा।

"जी।" कहकर मियाँ अब्दुल लतीफ़ लौट पड़े और प्रुफ़रीडरों से कुछ हटकर एक टीन की कुरसी पर बैठ गये।

मियाँ लतीफ़-का नाम कुछ और है। क्या है, उससे मतलब नहीं। सब लोग उन्हें मियाँ अब्दुल लतीफ़ कहते हैं। नाम से ध्वनि होती है कि वे पागल हैं। लेकिन हैं वे वैसे नहीं। उनमें एक ख़ास प्रतिभा है। जो काम औरों से हताश होकर उन्हें सिपुर्द कर दिया जाता है, वह हो ही जाता है; चाहे कैसे ही हो। इस सर्व-कार्यदक्षता का परिणाम है कि वे किसी भी काम पर नियुक्त नहीं हैं, सभी उन्हें या तो मदाख़लत का अपराधी समझते हैं, या एक आलसी और निकम्मा घोंघाबसन्त। प्रूफ़रीडर समझते हैं, वह मशीन-मैन का असिस्टेंट है; मशीनमैन समझता है, वह कामचोर कम्पोज़िटर है; कम्पोज़िटरों का विश्वास है कि वह चपरासी है। चपरासी उन्हें कह देता है कि बाबू मुझे फ़ुरसत नहीं है, इसलिए ज़रा यह चिट्ठी तुम पहुँचा देना।

और मियाँ लतीफ़ सब-कुछ कर देते हैं। कभी उन्हें याद आ जाता है कि वे सहकारी सम्पादक के पद के लिए बुलाये गये थे, तो वे उस स्मृति को निकाल बाहर करते हैं। उससे उनकी हेठी होती है। वे क्या केवल सम्पादक

के सहकारी हैं ? उन्हें 'सहकारी कुछ' कहा जा सकता है, तो 'सहकारी विधाता' ही कह सकते हैं...

ख़ैर। जैसे विधाता को सुख में कोई याद नहीं करता, वैसे ही अब काम ठीक चलने पर मियाँ लतीफ़ की पूछ नहीं है। वे अलग कोने में टीन की कुर्सी पर बैठे हैं, बायें हाथ में दवात है, दाहने में कलम, घुटने पर स्लिप बुक और मस्तिष्क में—मस्तिष्क में क्या है ?

(२)

माथापच्ची।

दो पेज। दूसरा फ़रमा। कहानी अच्छी होनी चाहिए।

विशेषाङ्क है।

रोमांस। रोमांटिक कहानी हो। रोमांटिक यानी प्रेम। प्रेम। यानी—यानी—रोमांटिक। नहीं, ऐसे काम नहीं चलेगा।

क्या बचपन में मैंने कभी प्रेम नहीं किया ? प्रेम न सही, वही कुछ अधकचरा खटमिट्ठा-सा ही सही ? कुछ—

मियाँ लतीफ़ को याद आया; जब वे गाँव में रहते थे, तब एक बार रोमांस उनके जीवन के बहुत पास आया था। गाँव से पूर्व की ओर एक शिवालय था, जिसके साथ एक बगीचा था, जिसमें नीबू और अमरूद के कई पेड़ थे। लतीफ़ स्कूल से भागकर वहाँ जाते थे। एक दिन वहीं अमरूद के पेड़ के नीचे उन्होंने देखा, उनकी समवयस्का एक लड़की खड़ी है और लोलुप दृष्टि से पेड़ पर लगे एक कच्चे अमरूद को देख रही है। लतीफ़ ने चुपचाप पेड़ पर चढ़कर वह अमरूद गिरा दिया। वह लड़की के पैरों के पास गिरा। लतीफ़ खड़े रहे कि लड़की उसे उठा लेगी ; लेकिन लड़की ने वैसा न कर उनसे पूछा—'क्यों जी, तुमने मेरा अमरूद क्यों गिरा दिया ?'

'तुम्हारे खाने के लिए।' लतीफ़ ज़रा हैरान हुए ; लेकिन उन्होंने जेब में से एक चाकू निकाला, जिसका फल कुछ टूटा हुआ था, फिर दूसरी जेब में से एक पुड़िया निकाली, अमरूद काटा और आगे बढ़ाते हुए कहा—'यह लो, नमक-मिर्च भी है। खाओ।'

लड़की ने अमरूद तो खा लिया ; लेकिन खा चुकने के बाद कहा—अब बिना पूछे अमरूद मत तोड़ना, नहीं तो मैं नहीं खाऊँगी। और चली गई।

हाँ, पहला दृश्य तो कुछ ठीक है। दूसरा ?

एक दिन फिर मिले। अबकी लड़की ने अपना नाम बताया किस्सो—लेकिन कहानी में किस्सो कैसे जायेगा ? नाम बताया रश्मि। नहीं जी, यह

बहुत संस्कृत है! रामांटिक नाम चाहिए। किरण—लेकिन यह बहुत 'कामन' (प्रचलित) हो गया है। हाँ तो नाम बताया मदालसा। मियाँ लतीफ़ ने अपना नाम और उसका नाम एक अमरूद के पेड़ पर चाकू से खोद दिये। अमरूद पर नाम बहुत साफ़ खुद सकता है।' किस्सो—मदालसा—.खुश हो गई। उसने लतीफ़ के—नहीं लतीफ़ कैसे? मदालसा ने चित्रांगद के गले में हाथ डालकर कहा—'तुम बड़े अच्छे हो। यहाँ हमारा नाम साथ लिखा है, अब हमारा नाम साथ ही लिया जायगा।'

ठीक तो है। दूसरा दृश्य भी ठीक है। और नामों का जोड़ा क्या फिट बैठता है—'मदालसा-चित्रांगद।'

पर—

किस्सो की शादी हो गई। कह लो मदालसा; शादी तो हो गई, और एक अहीर के साथ हुई, जिसने मुर्गियों का फ़ार्म खोल रखा था।

रोमांटिक। दुःखान्त। मदालसा। चित्रांगद। अहीर को बलराम कह लो। लेकिन शादी तो हुई, मुर्गी-फार्म के मालिक के साथ तो हुई? रोमांटिक कहानी की नायिका रहे किस्सो और पाले मुर्गियाँ!

टन्-टन्-टन्...टन्! घड़ी ने बारह बजा दिये।

मियाँ लतीफ़ उठे। उठकर उन्होंने कुरसी को घुमाया। अब तक उनका रुख प्रूफ़रीडरों की ओर था, अब ठीक उलटी ओर दीवार की तरफ़ हो गया मानो कुरसी का रुख़ पलटने से विचार-धारा भी पलट जायगी।

रोमांटिक की ऐसी-तैसी। यथार्थवाद का ज़माना है। क्यों न वैसा लिखूँ?

यथार्थवाद। सुबह भुने चने, दुपहर को खेसारी की दाल, शाम को मकई की रोटी और मूली के पत्ते का साग। कभी फ़ाका। पसीना और मैल और लीद-गोबर और ठिठुरन और मच्छर। और मलेरिया और न्युमोनिया। और कुएँ का कच्चा पानी और नंग-धड़ंग बच्चे।

तो, वहीं से चलें। किस्सो और बल्ली। और उनकी मुर्गियों का फ़ार्म। बीमारी आती है, मुर्गियाँ एक-एक करके मरने लगती हैं। चूज़े सुस्त होकर बैठ जाते हैं। किस्सो अण्डे गिनती है, और सोचती है, भविष्य में क्या होगा?

बल्ली का प्रिय एक मुर्गा है, विलायती लेगहार्न नस्ल का। एक दिन वह भी सुस्त होकर बैठ गया। दिन ढलते उसकी गर्दन एक ओर को झुक गई, शाम होते ऐंठ गई। बल्ली हतसंज्ञ-सा देखता रह गया। किस्सो मुर्गे को गोद में लेकर धाड़ें मारकर रोने लगी...

किस्सो-विलाप।

अब्दुल लतीफ़ की कहानी—और नायिका एक मुर्गे के लिए रोती है। कहते हैं, कालिदास 'अज-विलाप' बहुत सुन्दर लिख गये हैं। अज माने बकरा। मुर्गी-विलाप।'

अब्दुल लतीफ़। काठ का उल्लू।

घड़ी ने एक खड़का दिया।

(३)

अब्दुल लतीफ़ बाहर निकल आये। बरामदे से नीचे झाँककर देखा, एक अख़बार के पोस्टर का टुकड़ा पड़ा था—"स्पेन-युद्ध ; लाखों स्त्रियाँ—"

हाँ तो, आज संसार इतनी तूफ़ानी गति से जा रहा है, क्या उसमें एक भी प्लाट काम का नहीं निकल सकता? प्लाटों से अख़बार भरे पड़े हैं। मुझे क्या ज़रूरत है रोमांटिक-रियलिस्टिक की, मैं सामयिक लिख दूँ—वही तो चाहिए भी।

लतीफ़ ने कई एक अख़बार उठाये और पन्ने उलटने लगा।

अबीसीनिया में घोर युद्ध। इटली आगे बढ़ रहा है। मुसोलिनी की आज्ञा—इटली के तमाम वयस्क आदमी शस्त्र सम्हाल लें।

जर्मनी की घोषणा—हम पर जबरदस्ती प्रतिबन्ध लगाये गये हैं, ताकि हम निकम्मे रहें ; हमने तय किया है कि हम सब प्रतिबन्धों को तोड़कर अपने राष्ट्र का सशस्त्रीकरण करेंगे।

ब्रिटेन में सब ओर पुकार—इंग्लैण्ड ख़तरे में है! हमारी शान्तिप्रियता हमारा सर्वनाश करेगी! अब सशस्त्रीकरण में ही हमारा निस्तार है, अतः हम ज़ोरों से अस्त्र-शस्त्र और जहाज़ी बेड़ों का निर्माण करेंगे।

स्पेन में युद्ध...पक्ष लेने के लिए सभी राष्ट्र तैयार हो रहे हैं...

रूस में फ़ौजी तैयारियाँ...

चीन में लड़ाई...

जापान में सैनिकों की सरगर्मियाँ...

मंचूरिया...

संसार-भर में अशान्ति है। एक नहीं, असंख्य कहानियों का प्लाट यहाँ रखा है, कोई लिखनेवाला तो हो! लेकिन प्लाट क्या बनाया जाय?

धीरे-धीरे लतीफ़ के आगे चित्र खिंचने लगे, विचार आने लगे।

एक बड़ी तोप। बहुत-सा धुआँ। इधर-उधर गड़गड़ाहट की ध्वनि। जहाँ-तहाँ लाशें। और जाने क्यों और कैसे, एक ही शब्द—कुटुम्ब। और इस सबको घेरे हुए ऊपर, नीचे, दायें, बायें सर्वत्र फालतू खाद्य-वस्तुओं के जलने की दुर्गन्ध...

और टन्-टन्-टन्...तीन !

नहीं। हाँ। उनकी कहानी युद्ध के बारे में ही तो होनी चाहिए—संसारव्यापी युद्ध के बारे में। हाँ। नहीं। हाँ, शुरू तो की जाय। हाँ।

'सर्वत्र अशान्ति के बादल—समझ लीजिए कि प्रलय-पावस में अशान्ति-रूपी घनघोर घटा उमड़ी आ रही है। सब ओर कारख़ाने हैं—जो कल कपड़ा बुनने की मशीनें बनाते थे, तो आज बन्दूकें बना रहे हैं; कल मोटरें बना रहे थे, तो आज लड़ाकू टैंक बना रहे हैं; कल खिलौने बना रहे थे, तो आज बम फेंकने की मशीनें बना रहे हैं; कल शराब बनाते थे, तो आज भयंकर विस्फोटक पदार्थ बना रहे हैं। सारा देश पागल—सारा यूरोप पागल—सारी दुनिया पागल! इस विराट् पृष्ठभूमि के आगे हमारी कहानी का नायक खड़ा है और सोचता है, क्या मैं अकेला इस सबको बदल सकूँगा, ठीक कर सकूँगा ?

उँहुँक। सब ग़लत।

नहीं।

लतीफ़ ऊँघने लगे। उन्होंने एक स्वप्न देखा। देखा कि सबेरे छः बजे घर पहुँच रहे हैं। सब लोग सो गये हैं, शायद भूखे ही सो गये हैं, क्योंकि पहले दिन सबेरे लतीफ़ घर से चले थे, तब उनके शाम तक कुछ प्रबन्ध करने की बात थी। किवाड़ बन्द है। लतीफ़ ने किवाड़ खटखटाया, फिर दुबारा खटखटाया। आख़िर उनकी पत्नी ने आकर दरवाज़ा खोला और उन्हें देखते ही बन्दूक की गोली की तरह कहा—'खाना खा आये ?' फिर क्षणभर रुककर—'नहीं, कहाँ खा आये होंगे। मिला ही नहीं होगा। भरा पेट होता, तो भला घर आते ? लेकिन यहाँ क्या रखा है ? यहाँ रोटी नहीं है। जाओ, हमें मरने दो।' फिर वह किवाड़ बन्द करने को हुई; लेकिन न-जाने क्या सोचकर रह गई और एक हाथ से मुँह ढाँपकर भीतर चली गई। मियाँ लतीफ़ स्तब्ध रह गये, देखते रह गये।

तभी एक झोंके से स्वप्न टूट गया। वे चौंककर उठ बैठे। और उन्होंने देखा, कहानी बिलकुल साफ़ होती चली जा रही है—बन गई है। उन्होंने कलम उठाई और तेज़ी से लिखना शुरू किया। अन्तिम वाक्य उनके सामने चमकने लगे—

'...और वह देखता है कि उसका भोजन "आधिक्य के कारण" उसकी आँखों के आगे जला जा रहा है, और संसार के सब राष्ट्र उस पर पहरा दे रहे हैं कि कहीं वह आग बुझा न दे, कुछ खा न ले। और देखते-देखते उसे लगने लगता है, वह अकेला नहीं है, व्यक्ति नहीं है, वह सारा संसार ही है,

जो अपने ही इन शक्तिसम्पन्न गुलामों के अत्याचार से पिसा जा रहा है, गुलाम जो अपने मालिक के भोजन को फ़ालतू माल कहकर जलाये डाल रहे हैं...भूख का बन्धन उसके भीतर वह प्रेम जगाता है, वह विश्वैक्य जगाता है, जो धर्म और दर्शन और बुद्धिवाद नहीं जगा सके थे। वह पूछता है, क्या सभ्यता ही हमारी गुलामी का कारण है? क्या सभ्यता का नाश कर दिया जाय?

'सभ्यता क्या जवाब देती है?'

कहानी लिखी गई। लतीफ़ उठे और सम्पादक के पास ले गये।

सम्पादक ने कहानी उसके हाथ से छीन ली, जल्दी से पढ़ गये। पढ़कर कुछ शिथिल हो गये, फिर एक तीखी दृष्टि से लतीफ़ की ओर देखकर बोले—'तुम्हें क्या हो गया है?'

'क्यों?'

सम्पादकजी ने धीरे-धीरे, मानो बड़ी एकाग्रता से, कहानी को फाड़ा। दो टुकड़े किये, चार किये, आठ किये और रद्दी को हाथ से गिरा दिया, टोकरी में डालने की कोशिश नहीं की। फिर संक्षेप में बोले—'फिर लिखो।' और मानो लतीफ़ को भूल गये।

'चार बज गये हैं।'

'अभी छः घंटे और हैं। दो पेज मैटर—काफ़ी समय है।'

'अच्छा, मैं ज़रा घर हो आऊँ।'

'हूँ।'

(४)

यथार्थता स्वप्न से आगे है। घर पहुँचने पर लतीफ़ ने किवाड़ खटखटाये, फिर खटखटाये; लेकिन दरवाज़ा नहीं खुला। थककर वे सीढ़ी पर बैठ गये। तब उनके सामने स्पष्ट होने लगा कि वे कहाँ हैं, क्या हैं, क्यों हैं? यानी दीखने लगा कि वे कहीं नहीं हैं, कुछ नहीं हैं, बिला वजह हैं—धब्बे की तरह हैं, सलवट की तरह हैं। उनका हृदय ग्लानि से भर गया। उन्होंने चाहा, अपना अन्त कर दें। जेब में हाथ डाला, तो वहाँ चाकू तो था नहीं, पेंसिल थी। लतीफ़ ने दृढ़ता से उसे खींचकर इस्तीफ़ा लिखना शुरू किया। उन्हें मालूम नहीं था कि वे किस पद पर से इस्तीफ़ा दे रहे हैं, अतः उन्होंने 'अपने पद से' लिखकर काम चला लिया।

इस्तीफ़ा लेकर वे दफ़्तर पहुँचे। लेकिन सम्पादकजी दफ़्तर में थे नहीं।

लतीफ़ टीन की कुरसी पर घुटने समेटकर बैठ गये और खिड़की से

बाहर झाँकने लगे। बाहर पौ फूट रही थी। उषा में चमक नहीं थी, उसके भूरेपन ने केवल रात के स्निग्ध अन्धकार को मलिन कर दिया था।

तभी लड़के ने आकर कहा—'चलिए, मा बुला रही हैं। रात भर बाहर रहे हैं, अब तो चलिए। नाश्ता हो रहा है।'

लतीफ़ ने चौंककर कहा—'क्या ?'

'मामा के यहाँ से गुड़ आया था, उसके गुलगुले बना लिये हैं।'

लतीफ़ कुछ सोच में पड़ गये, कुछ उठने की तैयारी में रह गये।

'और मा ने कहा है, तनख्वाह के कुछ रुपये तो लेते आना। तीन-चार दिन में भैयादूज है, कई जगह भेजने होंगे।' कहती हुई लड़की भी आ गई।

मियाँ लतीफ़ ने एक गहरी साँस ली। अपना इस्तीफ़ा उठाया और उसकी पीठ पर अपनी पिछले महीने की तनख्वाह का एक हिस्सा पाने के लिए दरख्वास्त लिखने लगे।

तभी सम्पादकजी आ गये। लतीफ़ को यों घिरा हुआ और लिखता देखकर बोले—'यह क्या है ?'

पास आकर उन्होंने मोड़े हुए काग़ज़ पर इस्तीफ़ा पढ़कर काग़ज़ छीनते हुए फिर पूछा—'यह क्या है ?'

'कुछ नहीं, मैं नई कहानी लिखने लगा हूँ।'

सम्पादकजी ने काग़ज़ उलटकर देखा और फिर ज़ोर देकर पूछा—'यह क्या है ?'

'यह मेरी नई कहानी का प्लॉट है, जी !'

सम्पादकजी को एकाएक कुछ कहने को नहीं मिला। उन्होंने बाहर जाने के लिए लौटते हुए कहा—'तुम रहे सदा वही अब्दुल लतीफ़ !'

लेकिन अब्दुल लतीफ़ तब तक लिखने लग गये थे।

प्रतिध्वनियाँ

दिसम्बर १९३५

गिरजाघर से कुछ हटकर जो सरू के सुन्दर वृक्षों से सजा हुआ छोटा-सा टीला था, उसी के ऊपर एक सुन्दर साड़ी पहने एक युवती टहल रही थी।

उसका मुख कुछ चिन्तित-सा था, लेकिन चिन्ता इतनी गहरी नहीं थी कि उसके सुन्दर मुख को विकृत कर दे। केवल हल्की-सी एक रेखा थी, जो किसी दर्शक को एकाएक और भी आकर्षित कर लेती थी और वह पूछ बैठता था, इतने सुन्दर मुख पर यह क्यों ?

वह बाग़ के मध्य से टीले के सिरे के एक सरू वृक्ष तक टहल रही थी। यह टीला नैसर्गिक नहीं था, मनुष्यों की मेहनत से बना था, और इसके सिरे पर, उसे कायम रखने के लिए ईंटें चुनी गई थीं। उस ईंटों के मोर्चे तक आकर युवती एक बार उड़ती हुई निगाह से नीचे देख लेती थी और फिर लौट जाती थी।

नीचे एक छोटी-सी सड़क—चाहे गली कह लीजिए—थी। एक तरह से यह टीलेवाले बाग़ का पिछवाड़ा था और इधर नीचे मामूली हैसियत के लोग रहते थे—जो कभी उन लोगों की बराबरी करने का ख़याल भी नहीं कर सकते जो कि गिरजे के सामनेवाली ओर रहते हैं और जिनमें उस युवती का अपना एक स्थान है।

युवती का नाम था अरुणा। वह ईसाई नहीं थी—लेकिन उसके अपने धर्म की तफ़सील यह है कि वह अपने को हिन्दू भी नहीं कहती थी। उसके पिता ने अपने पिता से काफ़ी-सा धन पाया था और इसलिए यह नहीं सीखा

था कि अमीरों का जो जुआ है, सट्टा, वह असल में गरीबों को ही खेलना चाहिए। वे आजकल सट्टे के मशहूर व्यापारी थे।

अरुणा ईसाई नहीं थी, पर मन्दिर भी नहीं जाती थी। क्योंकि उस बड़े नगर में कोई भी सुन्दर मन्दिर नहीं था। जब कभी उसे कोई सोच होती, या उसका मन अपने दैनिक जीवन से उचाट हो जाता, तब वह गिरजाघर से सटे हुए इसी छोटे से बाग़ में आकर, कुछ देर टहलकर, कुछ शान्त और सुस्थ होकर लौट जाती।

अरुणा टहलती हुई टीले के छोर पर पहुँची ही थी कि गिरजे के घण्टे एकाएक बजने लगे। अरुणा चौंकी, फिर ठिठक गई और सुनने लगी। पाँच भिन्न-भिन्न स्वरों के घण्टे थे—जिनकी एक ख़ास क्रम से आवृत्ति हो रही थी—टिन्-टिन्-टेन्-टन्-टन्! ..

अरुणा ने धीरे से कहा, आज इतवार है क्या? फिर उन घण्टों के संगीत में उसे कुछ भी होश नहीं रहा। वह जड़ित, स्तब्ध, तन्मय, उस स्वर को सुनने लगी; स्थूल निराकार होकर वातावरण को चीरकर जाते हुए पख-युक्त तीरों पर बैठकर उन्मत्त उड़ने लगी—वह गई...उसकी आँखें नीचे गली की ओर लगी हुई थीं, खड़ी थीं, लेकिन जिस अनुभूति में वह बही जा रही थी—जो अनुभूति उसे बहाये लिये जा रही थी, उसकी गति का परिमाण कहाँ है?

अरुणा के मुख पर वह विस्मृति का भाव टूट गया। आकाश से कठोर भूतल पर गिरकर उसने देखा, नीचे गली में एक कलईगर अपनी भट्ठी सुलगाये एक हाथ से धौंकनी चला रहा था और दूसरे से एक चिमटी पकड़े एक पतीली को आँच में घुमाता जा रहा था। आग की लाल चमक में उसके मुख पर एक अमानुषी रङ्ग छाया हुआ था और जिस उत्साहमय एकाग्रता से वह पतीली घुमाने में लगा हुआ था, वह भी अरुणा को अमानुषी ही मालूम हुआ, क्योंकि क्या मानुष भी इतना अन्धा, इतना बहरा, इतना संज्ञाहीन हो सकता है कि वैसे सुन्दर संगीत के आँचल में बैठकर भी अँगीठी और पतीली में इतना लीन हो—उस दिव्य उपहार की उपेक्षा किये जाय!

अरुणा को बहुत बुरा लगा। यहाँ तक कि वह चाहने पर भी उस वातावरण में नहीं लौट सकी जिसमें वह क्षण भर पहले थी, हालाँकि घण्टे अभी बज रहे थे। तब झुँझलाकर उसने पुकारा—'कलईवाले! ओ कलईवाले!'

ख़ैर, कलईवाले ने सुन तो लिया। सिर उठाकर देखा, फिर बड़े इतमीनान भट्ठी में कुछ कोयले हटाकर पतीली वहाँ रखी, धौंकनी को बन्द किया,

फिर उठकर धीरे-धीरे टीले के पास नीचे आकर बोला, 'कहिए बीबीजो, कुछ काम है ?'

अरुणा ने कहा—'नहीं, काम तो कुछ नहीं है। पर तुम कैसे काम में लगे हो। ये जो गिरजे के घण्टे हैं, ये क्या तुमने नहीं सुने ?'

जिस तरह कलईवाले ने कहा, 'कौन से घण्टे'—और रुक गया, उससे अरुणा ने उत्तर पा लिया। उसने फिर पूछा, 'तुम्हारे पास ही इतनी सुन्दरता और मिठास बही जा रही है, और तुम्हें खबर नहीं है, तुम अपनी धौंकनी और पतीली में मस्त हो ! माना कि रोटी भी कमानी होती ही है, लेकिन उसमें क्या कोई इतना रम जाता है कि दुनिया के लिए मर ही जाय ?'

कलईगर ने भौंचक-सा होकर कहा, 'क्या—'

'तुम्हारी उम्र कितनी है ?'

'यही कोई बाइस साल—'

'कुल ! तुम्हें अभी पचास बरस और जीना है—बल्कि शायद ज्यादा। पचास बरस तक धौंकनी और पतीलियाँ—उफ् ! तुम्हारा दिल कभी इसके अलावा कुछ नहीं माँगता ?'

कलईगर ने और भी घबराकर कहा, 'बीबीजी—'

अरुणा ने अधिकार के स्वर में कहा—'यहीं खड़े रहकर ज़रा सुनो तो सही, इन घण्टों की आवाज़ ! ये क्या तुम्हें कुछ भी नहीं कहते ?'

कलईगर सहमा हुआ-सा खड़ा होकर सुनने लगा। उसकी मुद्रा मानो यह दिखाने की कोशिश कर रही थी कि 'मैं सुन रहा हूँ ! है बिलकुल निकम्मी बात, वक्त ज़ाया करना, लेकिन मैं सुन रहा हूँ !'

और अरुणा उसकी ओर देखने लगी।

धीरे-धीरे कलईगर के शरीर की तनी हुई पेशियाँ ढीली पड़ने लगीं। बलात् केन्द्रित ध्यान का भाव उस पर से मिटने लगा, और सहज, आकर्षित ध्यान का आने लगा। मानो कानों ने जान लिया कि यह काम सिर्फ़ हमारा है, और बाक़ी शरीर को छुट्टी दे दी कि वह आराम करे और उस दैवी देन को पाये, भोगे, जो कानों द्वारा उसे प्राप्त हो रही है...

और अरुणा उसकी ओर देखने लगी...

कलईगर मानो संगीत में घुल गया। संगीत मानो उसके भीतर समाकर, उसका होकर उसके चेहरे से फूट निकलने लगा—ऐसा पूर्ण संगीतमय हो गया था उसका चेहरा...

थोड़ी देर बाद जब घण्टे एकाएक बन्द हो गये, तब भी कलईगर चौंका नहीं, उसी स्वप्न-से में, उसी प्रकार मुँह उठाये, मुँह पर संगीत की ज्योतिर्मय

छाया लिये, धीरे-धीरे वहाँ से हटकर अपनी भट्ठी की ओर चल पड़ा। अरुणा से उसने बात नहीं की, उसकी अनुमति नहीं माँगी, उस वरदान के लिए उसे धन्यवाद नहीं दिया। पर अरुणा को इसका तनिक भी खेद नहीं हुआ, वह प्रसन्नमन उसे देखती रही। उसके अपने मुख पर जो चिन्ता की रेखा थी, उसका स्थान लिया एक सन्तोषमय आनन्द ने, क्योंकि किसी दूसरे की आत्मा को जगा देना, उसमें कला को ग्रहण करने की शक्ति को चेता देना, कितने गौरव की बात है!

अरुणा फिर भी उसकी ओर देखती रही। जब कलईगर अपने स्थान पर जाकर बैठ गया, एक हाथ में धौंकनी उठा ली और दूसरे में चिमटी, तब भी उसके मुख पर वही पारलौकिक भाव था, पर जभी उसकी चिमटी पतीली से टकराई, उसने धौंकनी और चिमटी को ऐसे चौंककर छोड़ दिया जैसे साँप पकड़ लिया हो...और फिर उनकी ओर अनदेखती-सी आँखों से देखने लगा—

अरुणा मुस्कराई। उसने जान लिया कि अब यह व्यक्ति सदा के लिए अपने वातावरण से और संसार से असन्तुष्ट है—कि अब इसकी आत्मा जाग गई है, और सदा जागेगी, सदा अतृप्त रहेगी...अब वह पारखी की आत्मा है, कलाकार की आत्मा है।

अरुणा ने एक काग़ज़ पर अपना नाम और पता लिखा, और फहराकर टीले से नीचे गिरा दिया।

वह लौटी, तब उसके हृदय में आनन्द और अभिमान था। वह आत्मा मैंने जगाई है—उसके हृदय में जिस वीणा के तार झनक उठे हैं उसे मैंने छेड़ा था, मैंने!

(२)

एक-एक सीढ़ी ऊपर—एक-एक सीढ़ी नीचे...

धौंकनी और पतीली जाती है, सट्टे का व्यापार गर्म होता है; बीबी भूखी मरती है, रुपये की माँग बढ़ती है; सारङ्गी आती है, धन जाता है; प्रसिद्धि होती है, दीवाले निकलते हैं; कला आती है, कला जाती है...

एक-एक सीढ़ी ऊपर, एक-एक सीढ़ी नीचे...

और घण्टे बजते जाते हैं...

बीस वर्ष...

साँझ की प्रार्थना हो चुकी थी। गिरजे के बाहर टीले पर, अच्छा-सा सूट पहने और हाथ में वायलिन थामे हुए अधेड़ उम्र का किन्तु देखने में

आकर्षक एक व्यक्ति टहल रहा था। उसका मन कहीं और था, लेकिन कभी-कभी उसकी उँगलियाँ तारों पर कमान को खींच ले जाती थीं, तब एक गंभीर गूँज से मानों सरू भी काँप-से जाते थे...

जो लोग प्रार्थना करने आये थे, वे एक-एक करके जा रहे थे। जब सब चले गये, तब उस व्यक्ति ने वायलिन को अच्छी तरह ठोड़ी से दबाया, कमान उठाई, और क्षण भर सोचकर बजाने लगा...

बिजलियाँ काँपीं। पपीहे बोले। विरहिनियाँ पुकारा कीं। पहाड़ी झरने, मानो एक हँसी से दूसरी हँसी की ओर उछलते हुए बहा किये। फूल फूटे और कुम्हलाये और कलियों के नीचे छिप गये। प्रकाश की लहरें बहती रहीं......

और सङ्गीतकार वायलिन बजाता हुआ टहला किया ..

एकाएक टीले के सिरे पर आकर वह रुक गया। नीचे एक भीड़ एकत्र हो रही थी। सुन रही थी, आनन्दित हो रही थी। सन्नाटा था। और वायलिन बजता जा रहा था...

खुट्-खुट्-खुट्...

गली की एक ओर से एक बुढ़िया लकड़ी टेकती हुई बढ़ी आ रही थी। सिर उसका झुका हुआ था, चेहरे पर झुर्रियाँ थीं। और वह गली को जल्दी से पार कर लेने की चेष्टा में धीरे-धीरे चली जा रही थी।

सङ्गीतकार को अच्छा नहीं लगा। उसने वायलिन बजाना बन्द कर दिया और उस बुढ़िया की ओर देखने लगा जिसने उसके सङ्गीत की ओर ध्यान नहीं दिया—तन्मय होना तो दूर, बिलकुल अनसुनी कर दी...

भीड़ बुढ़िया के सब तरफ़ होती हुई बिखरने लगी। बुढ़िया अपना आगे बढ़ना असंभव पाकर लाठी टेककर खड़ी हो गई, मानो कह रही हो, 'लो, पहले तुम्हीं चले जाओ। तुम्हारे ठहरने से दुनिया का काम रुक जायगा; पर मैं और दुनिया अलग-अलग हैं। मेरा कोई हर्ज नहीं होता...

थोड़ी देर में भीड़ छँट गई—गली सूनी हो चली। तब बुढ़िया फिर आगे बढ़ने को हुई—खुट्-खुट्-खुट्...

सङ्गीतकार ने अपने उलहना भरे स्वर में कुछ विनय लाने की चेष्टा करते हुए कहा—'बुढ़िया, तुम्हें सङ्गीत अच्छा नहीं लगता ?'

बुढ़िया ने कुछ पास आकर, रुककर, सिर उठाकर उसकी ओर ऐसे देखा मानो कहना चाहती हो, 'क्या कहते हो तुम ?'

चेहरा देखकर व्यक्ति ने जाना, वह उतनी बुढ़िया नहीं थी—अकाल ही में ये झुर्रियाँ पड़ गई थीं उसके चेहरे पर, जो कभी बहुत सुन्दर रहा होगा...

वह उसकी ओर देखती जा रही है, यह नोट करते हुए उसने पूछा, 'क्यों बुढ़िया, सङ्गीत तुम्हें अच्छा नहीं लगता ?'

बुढ़िया फिर भी कुछ नहीं बोली, ध्यान से उसकी ओर देख रही है, तो बस देखती जा रही है, यह जानकर, कुछ अचकचाये स्वर में वह फिर बोला 'क्या,—'

बुढ़िया ने एक शब्द कहा, लेकिन उस शब्द में था विस्मय, उसमें थी वेदना, उसमें था अभिमान-सा भी कुछ, जो नींद से नहीं, मौत से जागने की चेष्टा कर रहा था—'कलईगर ?'

सङ्गीतकार के सधे हुए कान ने इस पुकार में वह जान लिया जो आँखों ने नहीं पाया था और वह भी बोल उठा, 'अरुणा !'

थोड़ी देर बाद, कुछ अधिक अनिश्चित-से सहमे हुए-से बहुत ही धीमे स्वर में उसने फिर कहा, 'अरुणा··'

———

सितम्बर १९३४ ई०

We love, but never can we keep the rose.

जब उस दिन एक विचित्र विस्मय से भरकर अपने झोपड़े के द्वार पर आते ही मैंने अपने हाथों को हथकड़ियों में बँधे हुए पाया, तब उस अनहोनी, यद्यपि चिर-अपेक्षित घटना के दबाव के बीच में भी, मैंने यह सोचा था कि इस विघ्न द्वारा कुछ पूर्ण हो गया है—कुछ ऐसा जिसका और कोई अन्त मैं सोच ही नहीं पाता था...पर आज इतने दिन बाद, तुम्हारे सम्बन्ध में एक दूरस्थ भाव हृदय में जमाकर जब मैं अपने उस दिन के विचारों को लिखने बैठा हूँ, तब यह सोच-सोचकर मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं कि मैं तुम्हारे सम्बन्ध में जो कुछ लिख रहा हूँ, जो कुछ लिखूँगा, वह कभी तुम नहीं जान पाओगी,—तुम्हें कभी यह भी ज्ञात नहीं होगा कि मैंने कभी तुम्हारे बारे में कुछ लिखा—कभी कुछ सोचा भी ! मंसो, जब ऐसा है, तब वे सारे विचार, यह सारा एकाग्र चिन्तन, यह लिखना, यह सौंदर्य को घेर-घेरकर इकट्ठा करने की चेष्टा, यह निरन्तर खोज और यह अप्राप्ति के प्रति विद्रोह—ये सब कितने व्यर्थ हैं !

यदि मैं अपने को विश्वास दिला सकता कि मैं जो लिख रहा हूँ, जो निर्माण कर रहा हूँ, वह कला की वस्तु है और इसलिए मेरे व्यक्तिगत जीवन से अलग है, तब शायद मैं लिख सकता। पर वह झूठ है, मैं जानता हूँ, वह झूठ है ! यह कला नहीं है, यह सार्वलौकिक वस्तु नहीं है ; यह है मेरी घोर व्यक्तिगत व्यथा, जिसे दुबारा भुगतकर मैं चाह रहा हूँ भूत को जिला लेना,

एक धुँधले चित्र में नई दीप्ति और नया जीवन डाल देना—यह जानते हुए कि वह चेष्टा है व्यर्थ !

मैं विवश हूँ। जब-जब इस चेष्टा की निरर्थकता जानकर मेरे प्राण रो उठते हैं, तभी कविता की दो-एक पंक्तियाँ मेरे मस्तिष्क में फिर जाती हैं, और उन्हें गुन-गुनाते हुए मुझे फिर भ्रम हो जाता है कि एक धुँधला-सा चित्र मेरे आगे खड़ा है और मेरे स्पर्शमात्र से जी उठेगा, और मैं आत्म-विस्मृत होकर तत्काल आगे हाथ बढ़ा देता हूँ—

Spirit of sadness, in the spheres
Is there an end of mortal tears?
Or is there still in those great eyes
That look of loneey hills and skies?*

मुझे अभी याद है, उन दिनों में एक दिन, मैं तुम्हे अपने दृष्टिपथ से जाते देखकर तुम्हारा वह वन्य-सौन्दर्य, तुम्हारी आँखों की अतल नीलिमा देखकर, यह सोचकर रो उठा था कि सौन्दर्य की जिस प्रकार की अनुभूति मैं कर सकता हूँ, जिसके लिए मेरे पास इतने साधन हैं, उस प्रकार की अनुभूति तुम्हें कभी नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि वे साधन तुम्हारे पास नहीं हैं, न होंगे। कालिदास और शेली, रेफेल और रोजेटी, हमारी संस्कृति की असंख्य सौन्दर्यानुभूतियाँ, तुम्हारे जीवन, क्षितिज से परे हैं और रहेंगी, हम तुम्हारे विवश उपासक रहेंगे, किन्तु तुम वही सरल, स्वच्छन्द, अछूती वन्य मंसो ही रह जाओगी···एक ओछी पहाड़ी झील की तरह, जिसके उथले, किन्तु स्वच्छ शान्त मुकुर में, जहाँ तल के कंकर-पत्थर दीख जाते हैं, वहाँ आकाश का अबाध विस्तार और शरत्कालीन मेघपुंजों की रहस्यमयी गति भी प्रतिबिम्बित होती रहती है···

पर यह शायद मेरा मिथ्या दर्प मात्र है? सम्भवतः तुममें भी उसी दर्जे की अनुभूति-क्षमता थी, पर उन वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं? नहीं तो, यह कैसे होता कि उस दिन तुम्हारी आँखें एकाएक ऊपर उठकर मेरी दृष्टि को ललकारकर पूछतीं, 'परदेशी, कभी तुमने—'?

× × × ×

(१)

महेश जिस झोंपड़े में छिपकर अपने दिन बिता रहा था, वह पहाड़ के उतार में, एक बड़ी-सी चट्टान की आड़ में बना हुआ था। किसी ज़माने

* ओ विषाद की आत्मा, इस लोक में मानवी आँसुओं का कोई अन्त भी है? अथवा कि उन विशाल आँखों में अब भी वैसे ही एकाकी पहाड़ियाँ और सूना आकाश झाँकते हैं?

में वह शायद गूजरों ने गायें बाँधने के लिए बनाया था, किन्तु बाद में जब वह ज़मीन किसी राजपूत के हाथ आ गई थी, तब उसने उसी को लीप-पोतकर किराये पर देने लायक झोंपड़े में परिवर्तित कर दिया था। उस समय उसे एक और राजपूत ने किराये पर लिया हुआ था, और अपने को दीन-मलिन वस्त्रों में छिपाये हुए महेश इसी राजपूत की नौकरी में यहाँ रहा करता था—उसकी भूमि के रक्षक मात्र की हैसियत से। उसे काम कुछ नहीं था, अतः यही उसका सबसे बड़ा काम था कि सोचे, क्या करे। वह झोंपड़े के तंग और नीचे दरवाज़े में बैठ जाता और कुछ नीचे जाते हुए श्वेत पहाड़ी पथ की ओर, या तलहटी के पारवाले पहाड़ के अंक में एकस्वर रोते (या गाते या हँसते) हुए छोटे झरने की ओर देखा करता। कभी एकाएक उसकी इच्छा होती, कुछ गाये, किन्तु पहाड़ी गीत न जानने के कारण, अपना भेद खुल जाने के डर से वह चुपचाप रह जाता। इसी डर से वह कुछ पढ़-लिख भी नहीं सकता था...वह वहीं चुपचाप आँखोंवाले अन्धे और ज़बानवाले गूँगे की तरह बैठा रहता, उसके मन में अस्फुट कविता की अधूरी पंक्तियाँ दौड़ा करतीं, या कहाँ-कहाँ की स्मृतियाँ, और उसे क्षोभ होता कि उसका जीवन कितना सूना है, आज ही नहीं, सदा से कितना सूना रहा है...

हाँ, तो वह उस श्वेत पहाड़ी पथ की ओर स्थिर दृष्टि से देखा करता था। उस पथ में कुछ नई बात नहीं थी, एक साधारण पहाड़ी पथ था। किन्तु महेश जो उसकी ओर इतनी देर देखते-देखते भी नहीं उकताता था, उसका कारण यह था कि सब ओर हरियाली से घिरे रहने के कारण उसे चीड़ वृक्षों की आड़ में से थोड़ी देर के लिए निकलकर खो जानेवाले इस पथ की धवलता एक नयेपन का, एक कोमलता या सजीवता का आभास दे जाती थी। महेश को मानो जान पड़ता था कि वह पथ उसी के जीवन का प्रतिबिम्ब है—प्रतिकूल अवस्थाओं से घिरा हुआ, किन्तु क्षण भर के लिए उस आच्छादन को काटकर प्रकट और देदीप्यमान...

कुछ दिनों तक यही एकमात्र कारण था। फिर एक दिन एकाएक महेश ने जाना, जो यह महत्त्वपूर्ण घटनाएँ होती हैं, उनका पूर्वाभास नहीं मिलता, लोकश्रुति चाहे जो कहे। जिस क्षण ने उसके जीवन की स्वीकृतिमय थकान को एक उग्र उत्कण्ठित प्रतीक्षा में बदल दिया, उसका कोई आभास महेश को पहले नहीं मिला।

महेश न जाने क्या-क्या सोचते-सोचते थक गया था। उसका सिर मानों घूम रहा था। वह दरवाज़े से उठकर भीतर जाने को ही था कि उसने देखा—

आकस्मिक अनुभूति घटना-क्रम को उलट-पुलट कर देती है। उस समय महेश की स्मृति में जो चित्र जम गया, वह था केवल यों चौंककर ऊपर उठी हुई आँखें–किन्तु आँखें कैसी ! महेश जानता है कि जिस समय वह पहले-पहल पथ पर दीखीं, उसका सिर झुका हुआ था, क्योंकि उसने एक कन्धे और ग्रीवावंक के ऊपर एक घड़ा टेका हुआ था और दूसरे कन्धे पर उसके सिर को ढँकनेवाला काला और बोझल रूमाल लटक रहा था। यह तो बाद में हुआ था कि शायद महेश की कोई आहट पाकर उसने क्षण के अंश भर रुक-कर चौंकी हुई दृष्टि से ऊपर देखा था और फिर महेश की उत्कण्ठित दृष्टि के आगे सिमटकर जल्दी से आगे बढ़ गई थी...

वह सब ऐतिहासिक दृष्टि से बिल्कुल ठीक और अनुक्रमिक है, पर—वे आँखें ! उस सारे चित्र का केन्द्र वे हैं, वैसे ही जैसे चन्द्रोदय के समय उसकी पूर्व ज्योति, पर्वतों को रजत-रेखा-चित्रित करती हुई प्रथम किरणें, खिल उठने-वाले बादल, तारों की क्रमशः छिप जानेवाली झिल-मिल कम्पन, सब ऐति-हासिक क्रमबद्ध सत्य होकर भी उदय के प्रकाण्ड मुग्धकारी सत्य के आगे कुछ नहीं रहते—उस समय नहीं रहते, केवल बाद में धीरे-धीरे चोरों की तरह चित्र में अपने-अपने स्थान पर आ विराजते हैं...

आँखें देखती हैं, मन परखता है, वाणी कहती है। इन तीनों की शक्तियाँ अलग-अलग क्षमता रखती हैं—अतः उसकी आँखों का वर्णन ऐसा करना कि दूसरा उन्हें चित्रित कर सके, असंभव है। बर्न-जोन्स के चित्र देखने से जान पड़ता है, उसके हृदय में ऐसी ही किन्हीं आँखों ने स्थान पाया होगा, जिन्हें चित्रित करने में उसने जीवन बिता दिया ; किन्तु यदि मंसो की आँखें उसने देखी होतीं .. तो वह अवश्य कह उठता, यह है वह अवर्ण्य सत्य जिसे मैं नहीं पाया हूँ ...'

महेश ने सोचा, उसका जीवन उतना सूना नहीं है जितना उसने समझा था। उसके जीवन में प्रकट हुई एक नई उत्कण्ठा, अस्तित्वमात्र के प्रति एक ममत्व, एक आग्रह, एक प्यास...उसके दिन पहले की अपेक्षा छोटे हो गये–कितने छोटे और कितने सरल ! एक क्षण तक प्रतीक्षा, उसके बाद उस क्षण का चिन्तन, बस यही तो थी उसकी चर्या...

पर ईश्वर की बुद्धिमत्ता का (यद्यपि स्वयं ईश्वरवादी इसका घोर विरोध करेंगे !) सबसे अच्छा प्रमाण है मानव-हृदय का असन्तोष—तृप्ति की असम्भाविता। यदि एक बार पाकर ही हम सन्तुष्ट हो जाते, तो कुछ दिन में संसार जड़ होकर नष्ट हो जाता। निरन्तर भूख, निरन्तर माँग, निरन्तर

प्राप्ति, निरन्तर वृद्धिगत भूख, यही जीवन का अनिवार्य और नितान्त आवश्यक क्रम है···

(२)

वह नित्यक्रम हो गया था।

नित्य ही वह प्रतीक्षा, वह आकस्मिक चौंकी हुई ऊपर उठी हुई दृष्टि, वह आँखों का मिलन, वह क्षणिक क्या ? एक अनैच्छिक किन्तु सचेतन स्थिर मुद्रा, उसके बाद एक त्वरगति कँपकँपी-सी, और काले रूमाल का अवगुण्ठन और कन्धे पर रखे हुए घड़े की ओट। कभी शायद वेणी में बँधे हुए छोटे-से घुँघरू का बहुत हल्का-सा रुनझुन।

यह सब अभी तक आकस्मिक ही था, किन्तु शायद नित्य होने के कारण इसकी आकस्मिकता पुरानी हो गई थी। तभी तो, उस दिन जब महेश अपने अभ्यस्त स्थान पर खड़ा-खड़ा एक विचारपूर्ण प्रतीक्षा में उलझा हुआ था, तब उसके मन में एक दबा हुआ-सा असन्तोष था—कि इस क्रम में कोई परिवर्तन क्यों नहीं होता। वह अपने सामने की पर्वतमाला, स्वच्छ आकाश जिसकी स्वच्छता को बादल का एक छोटा-सा टुकड़ा मानो अधिक मुखर कर रहा था, उसमें उड़ते हुए एक विशालकाय गरुड़, सामने के छोटे-से झरने और चीड़ों की छाया में जड़े हुए उस पथ के टुकड़े को देखकर, एक विचित्र आत्म-विस्मृति के भाव मंसो को सम्बोधित करके कह रहा था, 'यह सारी पर्वतमाला तुम्हारी है, यह सारा प्रदेश, यह सारा बिखरा सौन्दर्य ! मेरे लिए है केवल यह छोटा-सा द्वार, यह निर्जन प्रान्त का छोटा-सा टुकड़ा, वह एक रेखा जो पथ की धवल रेतीली धूल पर तुम्हारे पैरों की छाप से बन जाती है और जिसे तुम्हारे कन्धे पर के घड़े से छलका हुआ पानी बूँद-बूँद करके धो जाता है···मैं भागा हुआ कैदी तुम्हारी इस विशाल सुन्दर सृष्टि में आकर भी अपनी उस छोटी-सी कैद में से नहीं भाग पाता···'

तभी वह आई। वह नित्यवाला क्रम फिर हुआ। महेश एक विस्मृति से जागकर, दूसरी विस्मृति में खो गया और फिर क्षण ही भर में जाग पड़ा। उसके मन में अपने ही विचार के उत्तर में एक प्रश्न उठा, 'क्यों नहीं भाग पाता ?' और वह अकारण खिलखिलाकर हँस पड़ा। उसने स्वयं नहीं जाना-कभी नहीं, कभी भी नहीं जाना—कि क्यों।

उसने घूमकर, रूमाल उठाकर, महेश की ओर देखा। और उसकी हँसी का कारण न जानकर भी, उसकी बिलकुल स्वच्छ सरलता का अनुभव करके विवश होकर मुस्करा दी।

महेश ने किसी तरह पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है ?' यह उसे प्रश्न पूछने

के बाद ध्यान आया कि उसका हृदय किस अनभ्यस्त गति से धड़क रहा है।

उसने कहा, 'मंसो !' उसकी आवाज में रस से बढ़कर कुछ एक अजीब कम्पन-सा था, जो वयःसन्धि की भर्राई हुई ध्वनि के सम्मिश्रण से और अधिक आकर्षक हो गया था।

वह आगे बढ़ने लगी। संस्कृति की परिचय-प्रथा के अभ्यस्त महेश ने शायद आशा की थी कि मंसो अपना नाम बताकर पूछेगी, 'और तुम्हारा ?' पर जब वैसा नहीं हुआ, तो महेश ने कहा, 'मेरा नाम है दाता।' दाता ही वह नाम था जिसकी आड़ में उसने उस समय अपने को छिपाया हुआ था।

महेश ने जब फिर घूमकर देखा, तब अभी उसकी मुस्कराहट गई नहीं थी। वह थोड़ी देर स्थिर दृष्टि से महेश की ओर देखती रही—इतनी स्थिर दृष्टि से कि महेश स्तब्ध होकर अपने दिल की धड़कन गिनने लगा—एक, दो, तीन, चार···फिर वह खिलखिलाकर हँस पड़ी, बोली, 'मुझे क्या ?' और जल्दी से घूमकर, रूमाल से अपना मुँह छिपाकर, पहले से अधिक मुखर स्वर से घुँघरू रुनझुनाकर, चली गई।

कुछ देर तक मंसो के उस प्रश्न की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई ! किन्तु उसके बाद ही वह आई, एक बवण्डर की तरह, जो इस नई घटना की नूतनता को भी उड़ा ले गया और हूल-हूलकर एक ही प्रश्न उसके कानों में, मस्तिष्क में समूचे शरीर, समूचे संसार में ध्वनित करने लगा—मुझे क्या ? मुझे क्या ? मुझे क्या ?

हाँ, तुम्हें क्या ! महेश कौन है, या दाता कौन है, किस संसार का वासी है, किस संस्कृति का प्रतिनिधि, तुम्हें क्या ! किसका शत्रु है, किसका मित्र, किससे लड़ता है, किससे भागता है ; किसका सखा है, किसका प्रतिस्पर्धी, किसका विरोधी, किसका प्रेमी, तुम्हें क्या ! कविता से तुम्हें क्या, कला से तुम्हें क्या, बर्न-जोन्स से तुम्हें क्या ! अवर्ण्य आँखों और दिव्य सौन्दर्यानुभूति से भी तुम्हें क्या !

पर क्यों नहीं तुम्हें कुछ ? क्यों, कैसे, किस अधिकार से तुम मात्र जीवन की पुकार से परे, सौन्दर्य की अनुभूति से परे, आन्तरिक न्यूनता की प्यासी रिक्तता से परे ? तुम्हें जानना होगा, मानना होगा, झुकना होगा उसकी प्रेरणा के आगे, उसी प्रेरणा के जो···

जो क्या ?

जो हमारे विश्व के स्थायित्व का मूल है, जो उसे बनाये रखता ही नहीं, चलाता, भी है, वह अप्रतिहत आकर्षण··

महेश धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाने लगा और सोचने लगा कि क्या कभी

मंसो के जीवन में ऐसा क्षण नहीं आयेगा जब वह लौटकर देखेगी, कहीं किसी वस्तु की कमी पाकर परिताप करेगी कि क्यों नहीं, जब समय था तब उसने स्मृतियों का भंडार भर लिया···फिर उसे ध्यान आया, क्या वही एक है जो उस भण्डार को भर सकता है···क्या उसी की, उस भागे हुए कैदी की स्मृति ही एक वस्तु है जो मंसो के जीवन में मूल्यवान हो सकती है, और यह विराट् सौन्दर्य, ये प्रकट और अप्रकट निधियाँ उसके लिए कुछ भी नहीं रखतीं—एक स्मृति भर भी नहीं ?

उसके बाद तीन-चार दिन तक मंसो उस पथ पर से गई या नहीं, महेश ने नहीं जाना। जानने की चेष्टा ही नहीं की। जड़वत् झोंपड़े के मध्य में, द्वार की ओर पीठ करके, बैठा रहा, विशेषतः मंसो के जाने के समय के आसपास।

(३)

साँझ घिरती आ रही थी। पर्वत-शृंगों से घिरे हुए उस बड़े प्याले में, जिसमें पहाड़ी झरना बहता था, अन्धकार भर गया था और बढ़ रहा था। केवल ऊँची चोटियों पर कहीं-कहीं एक रक्तिम-सा प्रकाश था, जो शीघ्र उस बढ़ते हुए सजीव अन्धकार में घुलता-सा जा रहा था। प्रकृति मानो थक-कर सोने की तैयारी कर रही थी, केवल उसकी साँस की तरह चीड़ों मे वायु की सरसर ध्वनि अनवरत होती जा रही थी···

महेश का ध्यान उधर नहीं था। वह एक चोटी से कुछ ही उतरकर, एक ऊँचे पत्थर पर खिन्न-मन बैठा हुआ था। पहला क्रम टूट जाने से उसका यही क्रम हो गया था—नित्य ही साँझ को यहाँ आकर बैठ जाता, और अँधेरा हो जाने पर धीरे-धीरे उतरकर घर आ जाता। इसमें सुख नहीं था, थी एक कुढ़न, पर फिर भी वह नित्य ऐसा ही करता था, ऐसा करना अपने झोंपड़े के द्वार पर प्रतीक्षा करने से अधिक सहल पाता था···

बैठे-बैठे वह शून्य दृष्टि से कुछ दूर नीचे के एक झोंपड़े की ओर देख रहा था। उसने देखा, वहाँ से कोई निकलकर धीरे-धीरे उसकी ओर आ रहा है, कमर झुकाये, मानों कुछ ढूंढ़ता आ रहा हो। उस धुँधलके में वह पहचान नहीं सका कि कौन है, किन्तु समीप आकर जब उसने पूछा, 'यहाँ क्यों बैठे हो ?', तब महेश चौंक उठा, 'मंसो !' वह बिना उत्तर दिये ही मंसो के मुख की ओर देखने लगा। मंसो ने फिर कहा, 'यहाँ साँझ को मत बैठा करो, इधर रीछ आते हैं।'

महेश की बड़ी उत्कट इच्छा हुई कि कह दे, 'तुम्हें क्या ?' पर वह कह नहीं पाया। अपना क्षोभ निकाल देने का इतना सरल उपाय वह न जाने क्यों

क्यों स्वीकार नहीं कर सका। उसने उदास-से स्वर में पूछा, 'तुम यहाँ क्या कर रही हो?'

'एक बूटी ढूँढ़ रही हूँ।'

'कैसी बूटी?'

'दवाई है।' कहकर उसने अपने हाथ में पकड़ी हुई एक दो फुनगियाँ महेश को दिखा दीं।

'लाओ मैं भी देखूँ—'कहकर महेश ने हाथ बढ़ाया, तो वह पलटकर हँसकर भागती हुई बोली, 'क्यों, तुम्हें क्या हुआ है?'

क्षण ही भर में वह झोंपड़े के भीतर जा पहुँची। तब महेश अपने आप को कोसने लगा कि क्यों उसने इतनी शीघ्र हार मान ली और इतनी बुरी तरह पिटा! वह जान बूझकर बहुत रात गये तक वहीं बैठा रहा, किन्तु न तो रीछ ही आया, और न—हाँ, इसकी भी एक छिपी-छिपी आशा थी।—न मंसो ने ही झोंपड़े के बाहर आकर देखा कि वह चला गया है या अभी बैठा है। झोंपड़े में जो धीमा प्रकाश था, वह जब बुझ गया, तब महेश धीरे-धीरे सिर झुकाये उतर आया।

महेश ने निश्चय कर लिया था कि वह अब फिर उधर नहीं देखेगा। वह झोंपड़े में बैठा, ज्यों-ज्यों मंसो के आने का समय निकट आता जाता था, त्यों-त्यों अधिक निश्चयात्मक भाव से अपने को कहे जा रहा था, 'नहीं देखूँगा, नहीं देखूँगा, नहीं देखूँगा...' और उसे लग रहा था, सामनेवाले पहाड़ी झरने की ध्वनि भी, मानो उसी निश्चय की आवृत्ति साथ-साथ ताल देते-देते, अधिकाधिक तीखी होती जा रही है...

जब वह समय आया और बीत गया, और महेश अपने स्थान से हिला नहीं, तब वह एकाएक विजय के उल्लास से फूल उठा—कितनी बार ऐसा होता है कि ठीक पराजय के समय ही हम विजय के उल्लास से भरते हैं! और उठकर सीधा द्वार की ओर गया। वह तो चली गई होगी, पर शायद उसके पदचिह्नों को धोनेवाली बूँदों की रेखा बनी होगी, यह सोचते हुए उसने झाँककर देखा।

पथ के किनारे पर बनी हुई मेंड़ पर वह बैठी थी, गोद में घड़ा रखे, घड़े के मुँह पर दोनों हाथ रखकर उन पर ठोड़ी टेके, स्थिर दृष्टि से उसकी ओर देख रही थी।

क्या वह थकी थी? यदि ऐसा, तो क्यों महेश से आँखें चार होते ही सकपकाकर उठी और घड़ा उठाकर जल्दी से चीड़ों की ओट हो गई? महेश को ऐसा अनुभव हुआ, उसकी विजय और भी पुष्ट हो गई है—मानो उसने कोई

चोर पकड़ लिया है। वह फिर खिलखिलाकर हँस पड़ा। जब वह लौटा, तब उसके मन में कविता की एक पंक्ती सहसा गूँज उठी, 'ऐसे भी क्या दिन होंगे जब स्मृति भी नष्ट हो चुकी होगी?' किन्तु कविता की पंक्ति में जो आशंका, जो संशय-भाव था, वह उसके मन में नहीं जागा, उसके मन में प्रश्न का उत्तर बिल्कुल सीधा, बिल्कुल निश्चयात्मक था...

पर उसके बाद, जब महेश नित्य ही पूर्ववत् झोंपड़े के द्वार पर बैठकर प्रतीक्षा करने लगा, और मंसो नहीं आई, तब धीरे-धीरे उसे ज्ञान हुआ कि जिसे वह अपनी विजय समझे था, वह वास्तव में उसकी पराजय, घोर आत्म-समर्पण था। विजय मंसो की ही थी, और उसी की रहेगी।

वह यह जानने की जितनी ही कोशिश करता कि मंसो क्यों नहीं आई; उतनी ही उसकी उझलन बढ़ती जाती। एक ही कारण उसे उचित जान पड़ता था— कि वह जान-बूझकर नहीं आई; किन्तु इसी को स्वीकार करने के विरुद्ध उसकी समूची आत्मा विद्रोह कर उठती थी। यदि वह उसे बिलकुल महत्त्व नहीं देती, उसकी इतनी उपेक्षा है, तब वह उसे इतना महत्त्व क्यों देने लगी कि केवल मात्र उसी के कारण, उसी को चिढ़ाने के लिए, उस पथ पर से आना छोड़ दे? यह तो केवल तब हो सकता है जब—जब कुछ नहीं...

एकाएक महेश को ध्यान आया, मंसो पानी भरकर ले जाती है, पर वह उसे लौटती ही देखता है, आती कभी नहीं देखता। इसका यही कारण हो सकता है कि वह पानी लेने किसी दूसरे पथ से जाती थी, अब वापस उधर से ही लौटने लगी है। पर क्यों? क्यों?

जिस समय महेश ने यह सोचा, उस समय बिलकुल सबेरा था। पर यह उलझन इतनी गौरवान्वित हो गई थी, उसका सुलझाना इतना नितान्त आवश्यक, कि महेश उसी समय निकलकर मंसो के झोपड़े की ओर चल पड़ा— यह देखने के लिए कि वह किधर से जाती है...

सूर्य की पहली किरण नहीं तो किरणों का पहला पुंज अवश्य मंसो की झोपड़ी को छूता था। जिस समय महेश उसके पास पहुँचा, उस समय समुची झोपड़ी उस कोमल धूप में नहा रही थी, पर धूप के रंग में अभी तक वह स्निग्ध लाली थी जो संध्या की धूप में देर तक रहती है, किन्तु प्रातःकाल में अत्यन्त क्षणस्थायी होती है...

महेश ठिठक गया।

मंसो अपनी झोपड़ी के बाहर एक काली गाय को दुह रही थी। काली घघरी में आवृत घुटनों में से टीन का कमण्डल दबाये, काले रूमाल में छिपे

हुए सिर को गाय के पेट पर टेके, महेश की ओर पीठ किये वह बैठी थी, और दूध दुहते हाथों की गति के साथ उसकी वेणी के सिरे पर बँधा हुआ लोलक धीरे-धीरे इधर-उधर झूल जाता था।

उसे पता लग गया कि कोई उसे देख रहा है, क्योंकि उसने कलाई से सिर का रूमाल एक ओर हटाकर कनखियों से उधर देखा और महेश को देखकर सिर को गाय के पेट में और भी छिपाकर दूध दुहती रही—महेश को ऐसा लगा कि जैसे सदियों तक दुहती रही।

थोड़ी देर बाद महेश आगे बढ़ गया—सिर झुकाये और धीरे-धीरे, और काफ़ी दूर चला गया। एक चोटी पर पहुँचकर, चारों ओर देखकर धूप से नीचे बैठ गया। और उसका प्राण-पक्षी जो अब तक आकाश में उड़ रहा था, उतरता नहीं था, अब उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हुई गति से नीचे गिरने लगा, जैसे गुरत्वाकर्षण के कारण पत्थर।

महेश सोचने लगा कि वह भी मंसो को अपनी कल्पना में एक विशेष स्थान दे रहा है, वह क्या भूल नहीं कर रहा है? यदि वह चाहता है, मंसो उसके वास्तविक जीवन का अंश हो, तो क्यों वह उसे कल्पना की, देवोचित आराधना की, अधिकाधिक ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाये जा रहा है! और यदि मंसो कल्पना की ही वस्तु है, उसके भाव-संसार का कल्पना-सत्य, तो क्यों वह उसे खींच-खाँचकर यथार्थता के घेरे में बाँधने की चेष्टा कर रहा है!

वह अपने को समझाने लगा। मंसो कुछ नहीं है। जो वास्तविकता है और जो उसकी कल्पित मंसो है, उनमें कुछ भी साम्य नहीं है। उसकी मंसो एक वातावरण है, एक स्वप्न, एक छाया जिसकी अस्पृश्यता ही उसका सौन्दर्य और आकर्षण है। मंसो बाहर कहीं नहीं, उसके सामने नहीं, उसके हृदयस्थ एक चित्र है, बस!

और यह क्या है जो सामने है? ये बर्न-जोन्स के स्वप्नों से भरी रहस्यमयी आँखें, यह अमा-निशा की स्वर्गंगा के समान काले अम्बर पर चमकता हुआ वेणी-सूत्र, यह...

कुछ नहीं। बर्न-जोन्स कहाँ है? उससे पूछो, उसने कभी बर्न-जोन्स का नाम सुना है? 'बर्न-जोन्स के चित्र-सी आँखें'—यह वर्णन क्या उसके लिए कुछ भी अभिप्राय रखता है? स्वर्गंगा उसके लिए क्या है?

एक बड़े पीड़ित विस्मय में महेश को यह ज्ञान हुआ कि उनकी मनोगतियाँ बिलकुल भिन्न तलों पर चलती हैं, महेश के लिए जो वाक्य संसार का सारा अभिप्राय लिये रहते हैं, वे मंसो के लिए कुछ भी महत्त्व नहीं रखते, कुछ भी अस्तित्व तक नहीं! और बढ़ते हुए विस्मय, बढ़ती हुई

पीड़ा में वह अपने को बताने लगा कि किसी भी वस्तु का सौन्दय वह मंसो के साथ नहीं बँटा सकता—उस मंसो के साथ जो उसके मन में नहीं, अपने घर में बसती है ! ओफ़्, संसार की कोई भी (उसकी दृष्टि में) अच्छी, सुन्दर वस्तु ऐसी नहीं है, जिसे देखकर, सुख पाकर वह मंसो की आँखों की ओर देखे और उनमें अपने सुख का प्रतिबिम्ब पा सके ! क्या हुआ यदि वे बर्न-जोन्स के स्वप्न की आँखें हैं, क्या हुआ...

महेश की आँखों में आँसू आ गये—इतना आकस्मिक, इतना अभूतपूर्व था यह ज्ञान...

जब आदमी को चोट लगती है, तब उसकी ओर ध्यान देने से पीड़ा अधिक होती है, पर यह जानते हुए भी उसका ध्यान बार-बार उधर ही जाता है। महेश भी रह-रहकर अपने को कहने लगा, 'वह दूध दुहती है, पानी लाती है, गायें चराती है, बूटियाँ बीनती है, पानी पीती है, सो जाती है। इससे बाहर उसका कुछ नहीं, इसके आगे का संसार न उसने देखा है, न देख सकती है, न देखने की इच्छा करती है। इससे बाहर उसकी तृष्णा जाती ही नहीं और इससे कभी उकताती नहीं कि बाहर जाने को उत्सुक हो।

वह सोचने लगा, चाहने लगा कि मंसो में इस सबके अतिरिक्त भी कुछ होता, उसकी आँखों में इन पहाड़ों और आकाश के सूनेपन की छाया के साथ ही कुछ और भी छाया से बढ़कर ; उस सूनेपन की अनुभूति नहीं, तो उसे अनुभव करने की सामर्थ्य...

ये विचार उसको जितने ही अप्रिय लगते, उतना ही वह और उन्हें सोचता और जितना अधिक वह सोचता, उतना ही उसका विक्षोभ बढ़ता जाता, भरी आँखें बहती जातीं...

तब एक क्षण आया जब वह आगे नहीं सोच सका। वह उठा और वापस उतरने लगा।

मंसो की झोंपड़ी के पास आने तक उसकी पीड़ा की तीक्ष्णता बहुत कुछ धीमी पड़ गई थी। उतरते-उतरते जब बीच-बीच में वह उस झोंपड़ी की ओर देखता, तब उसमें किंचित् विषण्ण शून्य-भाव के अतिरिक्त कुछ नहीं होता था। किन्तु झोंपड़ी के पास आते ही, उसके पुराने सब संशय, वे सारी दुःखद आशंकाएँ पुनः जाग उठीं।

झोंपड़ी के बाहर खुली धूप में घुटने टेककर बैठी हुई मंसो बछिया को नहला रही थी। उसकी मुद्रा में एक तन्मयता का, एक दिव्य आर्जव का

भाव था, किन्तु उसके चेहरे पर, उसकी आँखों में थी वही गहरी रहस्यभरी हल्की मुस्कान...

महेश उसके बहुत समीप पहुँच गया था। उसने शायद अपने विचारों के दबाव के कारण ही सहसा पूछा, 'मंसो, तुम थक नहीं जातीं?' मंसो ने चौंककर केवल आँखें उठाकर महेश के मुख की ओर देखा—वे आँखें और उनमें वह उठती हुई चितवन!—और एक दूरस्थ विस्मय के स्वर में कहा, 'नहीं तो—काहे से?'

महेश जैसे एकाएक बुझ गया। थकना काहे से, यह भी नहीं जानती! और नीचे उतर गया, एक बार लौटकर भी नहीं देखा।

महेश में कुछ बदल गया। वह झोंपड़ी के बाहर नहीं निकलता, उसके द्वार पर पड़ा रहता, किन्तु किसी प्रतीक्षा में नहीं, किसी आशा में नहीं किसी उल्लास में नहीं। केवल वहीं पड़ा रहने के लिए पड़ा रहता...

और मंसो में भी कुछ परिवर्तन हो गया था—या कम से कम उसकी चर्या में अवश्य हो गया था। जहाँ उसने महेश के झोंपड़े के सामने जाना छोड़ ही दिया था, वहाँ अब वह दो बार जाने लगी थी—पानी लेने भी और लेकर वापस भी।

यह बात महेश को पहले ही दिन नहीं ज्ञात हुई। उसका मस्तिष्क इतना निकम्मा हो गया था कि दो-तीन दिन तक मंसो को दो-दो बार देखकर भी उसे किसी परिवर्तन का ध्यान नहीं हुआ। किन्तु धीरे-धीरे यह बात उसके मन में स्थान पाने लगी और एक दिन सहसा उसे पूर्ण ज्ञान हो गया कि यह परिवर्तन हो गया है, और अकस्मात् एक दिन के लिए नहीं हुआ, दैनिक क्रम बन गया है। पर इससे उसे किञ्चिन्मात्र भी आनन्द नहीं हुआ। अब मंसो दो बार उधर से जाकर भी उस स्थान-विशेष पर रुकती नहीं थी, बिजली की गति से मुस्कराती नहीं थी। इसके विपरीत महेश को लगता था वह जान-बूझकर सिर अधिक झुका लेती है, आँखें अधिक यत्न से पथ पर जमाये रहती है, घड़े को उस कन्धे पर रखती है, जो महेश के सामने होता है, और रूमाल भी दूसरे कन्धे पर न डालकर उसी कन्धे पर डालती है, ताकि किसी तरह वायु की सहायता पाकर भी महेश उसके मुख को न देख पाये और महेश को समझ नहीं आता कि यह सब क्यों...

कई दिन बाद एक दिन, जब मंसो पानी लेकर लौट गई, तब घड़े की टपकी हुई बूँद की रेखा देखते-देखते महेश को ध्यान आया कि यह सब शायद उसकी ग़लती है। शायद उसी में कोई त्रुटि है, कोई अक्षमता; शायद मंसो उससे किसी वस्तु की किसी भाव की, किसी चेष्टा की आशा करती है?

शायद वह किसी चीज़ की प्रीतक्षा, किसी घटना की इच्छा करती है, और महेश में उसकी न्यूनता पाती है ? एक संशय नाचने लगा उसके हृदय में कि यकि उसमें वह मौलिक अक्षमता न होती तो शायद यह सारी किया किसी नियापन की जोर बढ़तीं, कुछ फलित होती, 'कुछ' बन सकती ! कितनी भयंकर थी वह कल्पना, कि मंसो प्राप्य, स्पृश्य, ज्ञेय थी पर उसी की किसी कमी के कारण प्राप्त, स्पृष्ट, ज्ञात नहीं हो पाई···

उस समय वह कुछ नहीं कर सकता था, अतः उसने निश्चय किया कि अगले दिन जब मंसो उधर से जायेगी, तब वह अवश्य उससे पूछेगा, पूछेगा कि···

महेश ने पुकारा, मंसो !'

आवाज़ से वह चौंकी अवश्य, किन्तु रुकी नहीं, न उसने ऊपर ही देखा। प्रत्युत् कुछ अधिक सिर झुकाकर, कुछ अधिक तीव्र गति से, आगे निकल गई। चीड़ के पेड़ों की ओट हो गई।

महेश जड़वत् उस पथ की ओर देखता रह गया, जिस पर आज अभी वह बूँदों की रेखा भी नहीं थी।

जब मंसो पानी भरकर लौटकर आई, तब भी महेश वैसे ही बैठा था ; मंसो को देखकर ही उसकी मूर्छा टूटी। उसने फिर पुकारा, 'मंसो !' किन्तु अबकी बार वह परिवर्तन भी नहीं, संपूर्ण उपेक्षा, मानो उसने पुकारा ही नहीं था यद्यपि उसके स्वर में था कितना विषण्ण आग्रह !

जब वह चली गई, तब महेश सोचने लगा, क्यों नहीं मैंने पथ पर जाकर उसे बुलाया ? पर तब उसके लिए बहुत देर हो चुकी थी। इस ध्यान के साथ ही साथ उसने सोचा, यदि वह तब भी न बोलती तो ?

तो क्या ? उचित ही होता !

ज्ञेय ? प्राप्य ? स्पृश्य ? मंसो, मैं तुम्हें नष्ट कर सकता हूँ, पर नहीं सकता ..

और इस व्यथित ज्ञान में वह अपनी असलियत को भूलकर, अपने खतरे को भूलकर अपने आपको भूलकर, दाता से महेश होकर एक विह्वल, कम्पित किन्तु बहुत ऊँचे और भेदक स्वर से गाने लगा...

(४)

बहुत सबेरे ही उस झरने का पता लगाकर जहाँ से मंसो पानी लेने जाती थी, महेश उसके पास जा बैठा था और बैठा हुआ था। अनेकों विचार उसके मन में उठते थे और लीन हो जाते थे, किन्तु सभी का संबन्ध किसी न किसी प्रकार मंसो से था और उसके आकर्षण की विह्वलता से...

आज न जाने क्यों उसका मन अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ और प्रखर हो गया था—अधिक अलगाव से प्रत्येक बात पर विचार कर सकता था। वह सोच रहा था कि इस आकर्षण का कारण, औचित्य और फल चाहे जो हो, एक बात अवश्य थी कि वह अब तक मंसो के प्रति अन्याय करता आया था—और वह अन्याय, आकर्षण—क्या वह उसे प्रेम कह सकता है ?—के कारण नहीं, केवल स्वार्थ के कारण। मंसो क्या सोचती है, क्या सोच सकती है इस पर उसने विचार नहीं किया, वह अपना ही पक्ष सोचता रहा है...और मंसो का पक्ष अवश्यमेव विचारणीय है, इसका प्रमाण है उसका कल का बर्ताव। कल ही क्यों, उसका प्रत्येक कार्य प्रत्येक शब्द। मंसो कुछ हो, असभ्य हो, जंगली हो, अपढ़ हो, है स्त्री और इसलिए स्त्री की स्वाभाविक सहज बुद्धि रखती है, और स्त्री-जीवन की माँगों का अनुभव करती है। महेश क्यों सदा उसे भुला-भुलाकर, अपनी ही बुद्धि के अभिमान पर, अपनी माँगों की पूर्ति खोजता आया है ? क्यों नहीं देख पाया कि मंसो का प्रत्येक शब्द एक ललकार है, जो प्रत्येक स्त्री प्रत्येक पुरुष को करती है, वह पुरुष चाहे वांछित हो, चाहे अवांछित, संगी बनने के योग्य हो अथवा अयोग्य ? बल्कि वह ललकार ही तो कसौटी है जिस पर वह वांछनीयता या योग्यता परखती है...

इस चिन्ता में वह इतना लीन था कि उसने मंसो को आते हुए नहीं देखा। मंसो ने आकर, उसे वहाँ बैठे देखकर, अपना घड़ा झरने की धार के नीचे टिका दिया था और दबे पाँव उसके कुछ ही दूर तक आकर भूमि पर बैठ गई थी। तब भी महेश ने उसे नहीं देखा। वह चौंका तब, जब मंसो ने अपनी भर्राई हुई-सी आवाज़ में पूछा,—'परदेसी, तुम इतने दुःखी क्यों दीखते हो ?'

महेश ने एक बार आँख भरकर उसकी ओर देखा। वह उस दृष्टी के आगे सिमटी नहीं, स्थिर होकर महेश की आँखों से आँखें मिलाये रही। महेश ने अनुभव किया, उसमें कहीं परिताप का-सा भाव है, और उससे उत्पन्न एक कोमलता।

'इतने दुःखी क्यों दीखते हो, परदेसी ?'

हाँ, क्यों ? महेश अपने आपसे पूछता है। क्या इसलिए कि मंसो उसकी ओर देखती नहीं ? महेश चाहता है, अपने को यह विश्वास दिला ले ! यद्यपि वह झूठ है ! तब क्यों ? क्या इसलिए कि मंसो उसके प्रति कठोरता का व्यवहार करती है ? हाँ, यद्यपि महेश जानता है, वह भी झूठ है। तब क्या इस-

लिए कि महेश का निर्माण ही दुःख के लिए हुआ है ? हाँ, हाँ, हाँ ! पर यह झूठ भी दूसरे दोनों की अपेक्षा अधिक समुचित नहीं है...

तब महेश की बुद्धि से अधिक गहरी कोई चेतना, उसकी प्रज्ञा से अधिक विशाल कोई सत्य उसके भीतर जागता है, और उसके मुख से उत्तर दिलाता है, 'हाँ, इसलिए कि दुःखी दीखना बहुत सहल है...,

और एक विस्मय में महेश सोचता है, मंसो ने इतनी गहरी अनुभूति, इतनी सर्वग्राही विदग्धता कहाँ पाई जो उसकी चितवन में व्यक्त हो रही है ? उसमें इतनी समवेदना, इतनी सहानुभूति, इतना विस्तीर्ण और संपूर्ण भावैक्य है, महेश के साथ...महेश को ऐसा लगता है, उसका अस्तित्व ही मिट गया है, वह मंसो के भाव-संसार का एक अंश हो गया है, मंसो के किसी स्वप्न का एक परदा—उस मंसो के जो स्वयं आज तक उसके स्वप्न का एक परदा थी ! उसकी अनुभूति, उसकी चेतना, उसका अस्तित्व मात्र, मानो कुचलकर उसमें से निष्कासित कर लिया जाता है, और वह मंसो से एक संपूर्ण एकान्त, आत्यन्तिक एकत्व प्राप्त कर लेता है, कैवल्य...

मंसो फिर पूछती है, महेश के जाने एक असंभव प्रश्न—'परदेसी, तुमने कभी प्यार किया है ?'

और फिर कुछ महेश के गले में उठता है जो उसे वह उत्तर देने से रोकता है जो वह ऐसी परिस्थित में देता, जो सभ्यता उससे माँगती है—हाँ, इस समय वह क्या है जो उसे बाध्य करके, और बिना किसी प्रकार की लज्जा या आत्मग्लानि के उत्तर दिलाता है, 'हाँ, अनेक बार, अनेकों दिन...'

उसे फिर ज्ञात होता है कि वह अपना विचार अधूरा ही कह पाया है, किन्तु वह मंसो के मस्तिष्क में जाकर संपूर्ण हुआ है, कि अपना भाव व्यक्त नहीं किया है, किन्तु मंसो उसे समझ गई है ; उसे ही नहीं, उसके आगे की असंख्य कथित और अकथित बातों को भी···

तभी ऊपर कहीं से एक तीखी, भयभीत-सी पुकार आई, 'मंसो ! ओ मंसो, ओ मंसो !'

मंसो जल्दी से उठी और घड़ा उठाकर झरने से ऊपर के चीड़ों की ओर चल दी। चीड़ों के छोर पर पहुँचकर उसने रूमाल हटाकर एक बार स्थिर दृष्टि से महेश की ओर देखा—एक बहुत दीर्घ क्षण तक, फिर ओझल हो गई चीड़ों के भीतर घुसकर।

चीड़ों के झुरमुट के भीतर, और महेश के जीवन से बाहर। महेश जब वहाँ से उठकर एक विचित्र स्निग्ध, सन्तोष-मिश्रित विस्मय का भाव लिये अपने झोंपड़े के द्वार पर पहुँचा, तब वहाँ दस-बारह सिपाही खड़े थे। महेश ने

एक बार चारों ओर देखा, फिर किंचित् मुस्कराकर दोनों हाथ बढ़ा दिये।

× × ×

इसको बहुत दिन हो गये हैं। आज मैं कारागार में बैठा इस सब कुछ को कल्पना में खींचकर लाता हूँ, तो मुझे याद आता है कि उस समय अपने हाथों पर हथकड़ियाँ देखकर, मुझे यही ध्यान हुआ था कि यह उचित हुआ, इसने इस एक स्मृति को पूर्णता दे दी कि यह यदि उस समय न होता तो एक स्वप्न कभी बन ही न पाता, मैं सदा के लिए उसके प्रति एक अत्याचार कर आता जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। पर इसके साथ ही एक घोर अतृप्ति का भाव भी आता है, जो उस दूसरे से किसी तरह भी कम सच्चा नहीं है...

समय के साथ अनुभव आता है, अनुभव के साथ बुद्धि, बुद्धि के साथ जीवन के प्रत्येक कर्म और प्रत्येक भूल की तर्क-सङ्गत सफ़ाई। पर यह छोटी-सी घटना अभी तक तर्क के फन्दे में नहीं फँसती—क्या इसी लिए कि वह घटना होने का गौरव पा ही नहीं सकी, एक शक्ति का बीज-मात्र रह गई जो अंकुरित नहीं हुआ, और जो इसलिए तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता?

एक स्मृति बची है। मैंने अनेकों बार, अनेकों दिन प्यार किया है। वे सारे प्रेम एक-एक करके खो गये हैं, एक बढ़ती हुई प्रणय-भूख के दबाव के आगे। किन्तु वह एक प्यार—वह क्या प्यार था—अचल बना रहा है, एक विचित्र, उग्र लालसा-मयी, किन्तु फिर भी भावुकता-भरी स्मृति। क्या इसी लिए कि उसे स्वप्न में भी पूर्ति नहीं मिली—कि मैं उसकी उस एक वाक्य द्वारा हत्या नहीं कर पाया जो कि कहे जाने के पूर्व इतना विशाल, इतना अर्थपूर्ण, इतना अतिशय गौरवान्वित होता है, और कहे जाने के बाद ही इतना निरर्थक—'मैं तुम्हें प्यार करता हूँ'...?

कुछ हो, वह स्मृति बची है, एक सजीव कम्पन-युक्त भर्राई हुई आवाज़ पूछती है, 'तुम इतने दुःखी क्यों दीखते हो?' और दो रहस्य-भरी आँखें असीम समवेदना, असीम सहानुभूति, असीम आत्यन्तिक भावैक्य और असीम अस्पृश्यता की दृष्टि में स्त्री-हृदय की चिरन्तन ललकार करती हैं—'तुमने कभी प्यार किया है?'

'कभी किया है? कभी किया है? कभी किया है?'

ताज की छाया में

फरवरी १९३६

कैमरे का बटन दबाते हुए अनन्त ने अपनी साथिन से कहा—'खींचने में कोई दस मिनट लग जायँगे—टाइम देना पड़ेगा।' और बटन दबाकर वह कैमरे से कुछ अलग हटकर पत्थर के छोटे-से बेंच पर अपनी साथिन के पास आ बैठा।

वह सारा दिन दोनों ने इस प्रतीक्षा में काटा था कि कब शाम हो और कब वे चाँदनी में ताजमहल को देखें। दिन में उन्हें कोई काम नहीं था; लेकिन दिन में आकर वे पाँच-सात मिनट में ही एक बार ताज की परिक्रमा करके चले गये थे, यह निश्चय करके कि शाम को ही, पूर्णप्राय चन्द्रमा की शुभ्र देन से अभिभूत-व्याकुल, वे उसे देखेंगे और उसी समय फोटो भी लेंगे।

अनन्त ने घड़ी देखी, और फिर धीरे-धीरे बोला—'देखो, ज्योति, आख़िर वह क्षण भी आया कि हम ताज को देख सके—तुम्हें याद है, तुम कहती थीं, कभी मैं तीर्थ करने निकलूँगी, तो पहले यह तीर्थ करूँगी? देखो...'

ज्योति ने उत्तर नहीं दिया। मानो उसके आदेश को मानते हुए, अपलक दृष्टि से सामने देखती रही।

साँझ के रंग बुझ चुके थे—सन्धिवेला नहीं थी, मात्र रात थी, अकेली और अतिशः रात... और अनन्त की आँखों के सामने, ज्योति की आँखों के सामने, सरो वृक्षों की सम्मिश्रणहीन श्यामता के ऊपर एकाएक ही प्रकट हो जाती थी रौज़े की दूषणहीन शुभ्रता।

बैठे-बैठे अनन्त का मन भागने लगा। उसे लगा कि संसार भर का

अँधेरा पुंजीभूत होकर वहाँ एकत्र हो गया है, मानो ताज का गौरव बढ़ाने के लिए ; और उसके ऊपर विश्व-भर की चाँदनी भी साकार होकर, अस्थूल पैरों से दबे पाँव आकर, अनजाने में स्थापित हो गई है, और चाँदनी भी ऐसी, जो मानो अपने-आपमें नहाकर निखर आई है, अतिशः चन्द्रिकामय हो गई है।

क्यों है इतना निष्कलंक सौन्दर्य पृथ्वी पर ? क्यों किसी की इतनी सामर्थ्य हुई कि वह अकेला ही इतने साधन इकट्ठे कर सके—इस अनुपम विराट् स्मारक की सृष्टि कर सके ?

सौन्दर्य का पूरा अनुभव करने के लिए क्या निर्वेद अवस्था जरूरी है ? क्या जरूरी नहीं है ? सौन्दर्य वह है, जिसकी अनुभूति में हम ऐहिक सुख-दुःख से परे निकल जायें—यानी भावानुभूति से परे चले जायें ; पर सौन्दर्य की अनुभूति तो स्वयं एक भाव ही है।

उसे एक कहानी याद आई। जाने कब उसने पढ़ी थी—अब ताजमहल को देखकर मन के किसी गहरे तल से उफनकर ऊपर आ गई। ऐसे ही एक स्मारक की कहानी थी—जो किसी सम्राट् ने अपनी प्रेयसी के लिए बनवाया था।

जब सम्राज्ञी मर गई, तब समाट् ने देश-भर के कलाकार एकत्र करके हुक्म दिया, मेरी प्रियतमा की स्मृति में एक ऐसी इमारत खड़ी करो, जैसी न कभी देखी गई हो, न कभी देखी जाय। चन्द्रिका लजा जाय, तारे रो पड़ें, ऐसा हो उसका सौन्दर्य। और मेरी सारी प्रजा, मेरा कुल राजकोष इस विराट् उद्देश्य के लिए अर्पित है। नहीं, मैं स्वयं भी इसी यज्ञ में आहुति दूँगा—मैं आज से अपने महल के तहखाने में अन्धकार में पड़ा रहूँगा, और मेरी आँखें तब तक कुछ नहीं देखेंगी, जब तक वह स्मारक तैयार न हो जाय—जो वैसा ही अद्वितीय सुन्दर हो, जैसी कि मेरी प्रियतमा थी।

सम्राट् चले गये। और राष्ट्र-भर की शक्तियाँ उस तीन हाथ लम्बे और हाथ-भर चौड़े क्षारपुंज के आसपास केन्द्रित होने लगीं, और स्मारक धीरे-धीरे खड़ा होने लगा।

दिन बीते, महीने बीते, बर्ष बीते। दस बर्ष बीत गये। एक दिन कलाकारों ने जाकर सूचना दी—सम्राट् बाहर पधारें, भवन तैयार हो गया है।

सम्राट् आये। अन्धकार में रहते उनके केश पीले पड़ गये थे, त्वचा मानो झुर गई थी, और आँखों की ज्योति चली गई थी।

सम्राट् ने भवन देखा। सचमुच उनकी साधना—उनके प्रतिपालित समूचे राष्ट्र की साधना—सफल हो गई थी—दिवंगता सम्राज्ञी की तरह

अद्वितीय सुन्दर था वह भवन। सम्राट् का रोमांच हो आया, हाथ-पैर भावातिरेक से काँपने लगे, पर एक उन्मत्त आवेश में वे आगे बढ़े, भवन के भीतर, जहाँ काले प्रस्तर के निर्मम, निःस्पन्द आलिंगन में सम्राज्ञी का निःस्पन्द शरीर बँधा हुआ था।

'आह, सुन्दरता . ' कहते-कहते सम्राट् की दृष्टि उस काले पत्थर की समाधि पर पड़ी—और उनकी ज़बान रुक गई, वह तल्लीनावस्था टूट गई, उन्होंने क्रुद्ध आज्ञा के स्वर में कहा—'इस कुरूप चीज़ को यहाँ से उठवा दो, भवन का सौन्दर्य बिगाड़ रही है!'

इतनी ही कहानी थी। बिलकुल छोटी, मामूली; लेकिन मानव-हृदय का कितना गहरा ज्ञान है इसमें—मानवीय प्यार की कितनी वज्र कठोर परिभाषा! यह सच है। लेकिन क्या सचमुच यही मात्र सच है? इतना ही है प्रेम का अमरत्व? फूल जो झर जायेंगे, और जिनके बाद रह जायगा—काँटे, और उनमें सनसनाता हुआ अन्धड़—

फूल फूल हैं, खिलकर झर जायँगे रातोरात—
कल काँटों में सन्नाता रोयेगा झंझावात!

पर, काँटे क्यों? न सही प्रेम अमर; पर उसके शव पर जो स्मारक खड़े होते हैं, उनका सौन्दर्य तो अमर हो सकता है—मिस्र के पिरामिड की तरह अचल, परिवर्त्तनहीन अमर।

पिरामिड भी क्या ऐसे ही बने थे? उसे एक और कहानी याद आई—पहली की-सी कठोर, और मानव-हृदय के विश्लेषण—नहीं, चीर-फाड़—में उतनी ही सच्ची, और अपने मन में उसको कहते हुए अनन्त का शरीर काँप गया—'मिस्र के फ़राऊन की एक लड़की थी—

अनन्त के शरीर के कम्पन को ज्योति ने भाँप लिया। अपने हाथ से बेंच पर अनन्त का हाथ टटोलते हुए कोमल आग्रह से बोली—'क्यों, क्या सोच रहे हो?'

'एक कहानी याद आ रही थी—'

'क्या?'

अनन्त ने धीमे स्वर में सम्राज्ञी के स्मारक की कहानी कह दी। ज्योति सुनते-सुनते अपना मनोयोग दिखाने के लिए 'हूँ' करती रही थी; लेकिन कहानी का अन्त होते समय एकदम शान्त-सी हो गई, और चुप रही। थोड़ी देर बाद बोली—'तुम काँपे क्यों थे?'

'वह? वह और बात थी।'

'क्या?'

'यों ही—'

'तो भी—'

'मैं सोच रहा था, सजीव आदमी के प्यार से उसका निर्जीव स्मारक अधिक स्थायी होता है, तब तो प्यार करने की अपेक्षा प्यार का स्मारक बनाना ही अधिक लाभकर है।'

ज्योति ने अन्यमनस्क स्वर में कहा—'तो...'

'मुझे एक कहानी याद आई थी। मिस्र देश के एक फ़राऊन ने अपनी लड़की को यही राय दी थी—'

'क्या?'

'लड़की की अपार रूप-राशि की कीर्ति देश-विदेश में फैली हुई थी। जब वह युवती हुई, तब उसने विवाह करने का निश्चय किया। वह कल्पना करने लगी, संसार में कहीं उस-सा ही सुन्दर कोई राजकुमार होगा, जिससे वह विवाह करेगी; और उन दोनों-सा ही अनुपम और अपरिमित होगा उनका प्रेम, जिसके द्वारा वह अपने को अमर कर जायगी। उसने पिता से जाकर कहा—'पिता, मैं विवाह करूँगी।'

पिता ने पूछा—'क्यों?'

'मैं प्रेम में अमर होना चाहती हूँ।'

'प्रेम में अमर? और ऐसे?'

कन्या ने कुछ लजाते हुए कहा—'और मैं यह भी चाहती हूँ, अपने पिछे कुछ छोड़ जाऊँ, जिससे लोग मेरा नाम लें और मेरी स्मृति बनी रहे।'

अनुभवी पिता ने मुस्कराकर कहा—'तुम अमरत्व चाहती हो न, अमरत्व? वह ऐसे नहीं मिलेगा, क्योंकि आदमी का प्यार क्या चीज़ है? बालू की लिखत—पानी का बुलबुला—अमरत्व मैं तुम्हें दूँगा; बोलो, मेरी बात मानोगी?'' '

कन्या ने कहा—'हाँ, मैं अमरत्व चाहती हूँ। आप आज्ञा कीजिए।'

सम्राट् ने देश-देशान्तर में हरकारे भेजकर घोषणा करवा दी कि फ़राऊन की लड़की स्वयंवर द्वारा शादी करना चाहती है, जितने प्रणयार्थी हों, वे राजधानी में आकर आवेदन करें। अपनी पात्रता प्रमाणित करने के लिए काली वज्रशिला का एक एक खण्ड लेते आयें।

'विवाहेच्छु युवकों का ताँता बँध गया; लेकिन फ़राऊन के आज्ञानुसार राजकन्या के दर्शन किसी को प्राप्त नहीं हो सके। सब आ-आकर वज्रशिला खण्ड एक निर्दिष्ट स्थान पर जमा करते जाते और यह समाचार पाकर लौट जाते कि राजकुमारी ने उन्हें पसन्द नहीं किया।'

'कई वर्ष हो गये, और यही क्रम जारी रहा। शिलाखण्डों का ढेर बढ़ता गया, निराश युवकों की संख्या बढ़ती गई, और राजकन्या का यौवन भी पराकाष्ठा तक पहुँचकर ढलने लगा। एक दिन उसने खिन्नमना होकर पिता से कहा—'पिता, अब तो मेरा शरीर भी जर्जरित होने लगा, अब बताइए, मैं अमरत्व कब पाऊँगी ?'

फ़राऊन उसे महल की खिड़की के पास ले गये, और उसे खोलते हुए बोले—'बेटी, तुम तो अमर हो गईं—वह देखो, तुम्हारा अमरत्व !'

'बेटी ने बाहर झाँका। सामने सांध्य प्रकाश में लोहित वर्ण पिरामिड चमक रहा था। पिता ने कहा—'वह देखो, बेटी ! अब तुम क्या करोगी मानव का प्यार... '

अनन्त एकाएक चुप हो गया। फिर बोला—'उफ़, कैसी कहानी है यह...'

ज्योति ने धीरे-धीरे अपना हाथ खींच लिया। दोनों फिर चुप हो गये।

मिनट-भर बाद ज्योति ने फिर पूछा—'अब क्या सोच रहे हो ?'

वह अनन्त की ओर देखती नहीं थी, देख वह अपलक दृष्टि से ताज की ओर ही रही थी ; फिर भी जाने कैसे अनन्त का नाड़ी-स्पन्दन निरन्तर उसमें प्रतिध्वनित हो जा रहा था।

कुछ चुप रहकर अनन्त बोला—'बताओ, क्या दिन के प्रकाश में प्यार भी उतना ही कठोर लगता है, जितना कि पत्थर ?'

ज्योति ने कुछ विस्मय से कहा—'क्यों, क्या मतलब ? मैं नहीं समझी।'

'आज दोपहर को देखा था,ताज कितना बेहूदा लग रहा था ? क्यों ? इसलिए कि पत्थर भी कठोर है; दुपहर की धूप भी कठोर है और दोनों एक साथ तो.. तभी दुपहर को लग रहा था, जैसे किसी ने निर्दय हाथों से ताज की सुन्दरता का अवगुण्ठन उतार लिया हो, उसे नंगा कर दिया हो। लेकिन अब चाँदनी में—ऐसा लगता है कि ओस की तरह चाँदनी ही जमकर इकट्ठी हो गई हो।'

'नहीं, तुम और कुछ सोच रहे थे—बताओ न ?' कहकर ज्योति ने फिर अनन्त के हाथ पर अपना हाथ रख दिया।

अनन्त को नहीं लगा कि प्रतिवाद करने की जरूरत है, या उसे झूठ बोलने पर लज्जित होना चाहिए। उसका अपने मन की बात न कहकर और बात कहना और ज्योति का इस बात को फ़ौरन ताड़ जाना उसे बिलकुल ठीक और स्वाभाविक लगे। वह फ़ौरन ही कहने लगा—'हाँ, दुपहर को ताज की परिक्रमा करते समय मैंने किसी को कहते सुना था कि एक बार विलायत

से एक मेम वहाँ आई थी और ताज को देखकर कहती थी, अगर मुझे कोई लिखकर दे दे कि मुझे यहीं दफ़नाया जायगा, तो मैं अभी यहीं मर जाऊँ—इतनी प्रभावित हुई थी वह इसके सम्मोहन सौन्दर्य से। मैं यही सोच रहा था, कैसी भावना है यह—क्या यइसका मूल्य जीवन से भी अधिक है ?'

ज्योति ने अनन्त का हाथ झटक दिया। वह चौंककर बोला—'क्यों, क्या हुआ ?'

'दो-दो बार झूठ बोलोगे ? बताओ, क्या सोच रहे थे ?'

'सच तो बता रहा हूँ—'

'भला मैं नहीं जानती—झूठे कहीं के !'

'अच्छा, तुम कैसे जानती हो—'

ज्योति क्या बताये की कैसे जानती है ? जैसे वह जानती है, वह बताने की बात ही नहीं, न उसे कहना आता है। एक बीज होता है, जब अंकुर फूटता है, तब बीज के दो आधे हो जाते हैं, तो अंकुर किसका अधिक होता है—कौन उसका अधिक अपना होता है ? और अंकुर की अत्यन्त सुकुमार जड़ों में जब रस खिंचता है, तब वे बीजांश कैसे जान लेते हैं कि जीवन का प्रवाह जारी है ? ज्योति जानती है कि अनन्त कहना चाहता है, जो उससे कहते नहीं बन रहा, वह उसकी इतनी गहरी अनुभूति है कि सचमुच निकलती ही नहीं, झूठ की आड़ में ही आ सकती है, जैसे मिट्टी के नीचे रसोद्भव—ज्योति जानती है, और बस जानती है, कैसे कहे कि कैसे···

ज्योति ने कहा—'नहीं, तुम बताओ मुझे, मेरे शिशु स्नेह !'

जाने क्यों, इस संबोधन का आग्रह अनन्त नहीं टाल सकता। वह कुछ सरककर, ज्योति से कुछ विमुख होकर, ताज की ओर देखते हुए ही कहने लगा—'मैं सोच रहा था, यदि तुम इस समय साथ न होतीं, तो मैं यहीं सर पटककर समाप्त हो जाता—यहाँ दफ़नाये जाने के मोह बिना भी। वैसी गारंटी, मुझे लगता है, अपने आत्मदान का अपमान करना है।'

'मैं साथ न होती, तब—यह कैसी बात ?'—ज्योति ने कुछ संभ्रान्त स्वर में कहा।

अनन्त चुप। फिर कुछ और भी विमुख होकर, कुछ लज्जित-से और बहुत धीमे स्वर में वह बोला—'इसलिए कि तुम साथ हो, तब मेरा अपना अलग व्यक्तित्व इतना नहीं है कि मैं उसे लुटा सकूँ—इस ताज पर भी लुटा सकूँ—'

उस समय अधिक लोग वहाँ नहीं थे ; लेकिन ज्योति को लगा, क्यों

उनके अतिरिक्त एक भी व्यक्ति वहाँ है ? कोई न होता तब···पर उस समय उसने केवल अनन्त का हाथ दबा दिया था ।

अनन्त का मन फिर भटकने लगा। तीन शब्द उसके मन में घूम-घूमकर आने लगे—मृत्यु, प्रेम, अमरत्त्व। और धीरे-धीरे, मानो चोरी से, एक शब्द और साथ आकर मिल गया—निर्धनता।

लेकिन, निर्धनता क्यों ? क्या प्रेम को अमर बनाने के लिए धन की ही आवश्यकता है ? यदि है, तो क्या है, वह प्रेम !

कवि भी तो हुए हैं, जिन्होंने अमरता प्राप्त की है—क्या धन-सम्पत्ति के ज़ोर से ? प्रेम के उन अमर गायकों में ऐसे भी तो थे, जिनको पेट-भर भोजन नहीं मिलता था। पेट-भर भोजन हृदय भर प्यार—ये अलग-अलग चीज़ें हैं।

अनन्त धीरे-धीरे तर्कना के क्षेत्र से परे जाने लगा–भावों की नदी में बहने लगा। और वैसे ही धीरे-धीरे उसके प्रश्न, उसके सन्देह, उसकी आशंकाएँ मिटने लगीं, और उस पर छाने लगा अतिशय आत्मदान का आनन्दमय उन्माद—वह कवि हो गया—कविता उसमें से फूटी पड़ने लगी।

उसने जाना—जाना नहीं, अनुभव किया—कि उसका और ज्योति का प्यार इसी में अमर है कि उन दोनों ने इस विराट् सौन्दर्य को, प्रेम के इस अमर स्मारक को साथ देखा है।

और बिना चाहे ही उसके मन में प्रेरणा उठी, वह इस भावना को कविता में कह डाले, किसी तरह प्रकट कर दे, इतना विवशकर था उसका दबाव ; पर वह कविता जी रहा है, तो कविता वह कह भी सकेगी, ऐसा तो नहीं है।

वह कहना चाहता था, मैं अनन्त नाम का एक क्षुद्र, साधनहीन व्यक्ति हूँ, कला मुझमें नहीं है, रस मुझमें नहीं है-आत्माभिव्यंजना का कोई साधन भी मेरे पास नहीं है, न मैं किसी साधन का उपयोग करना जानता हूँ-क्योंकि मैं मात्र अनन्त नाम का एक क्षुद्र व्यक्ति हूँ। पर—क्या यही मेरे लिए गौरव की बात नहीं है कि मैं कला में अपने को खो सकता हूँ, दूसरों के प्रेम में, दूसरों की साधना में निमग्न हो सकता हूँ—मेरे लिए, और, हाँ, ज्योति, तुम्हारे लिए भी गौरव की बात···

क्योंकि, ज्योति, इस विराट् रचना के आगे, प्रेम के इस दिव्य स्मारक की छाया में, कन्धे से कन्धा मिलाये और अँगुलियाँ उलझाये बैठे हुए हमें भी अमरता प्राप्त हुई है—हमें, जो निर्धन हैं, साधनहीन हैं, किन्तु जो फिर भी दानी हैं, क्योंकि उनके पास साधना है। सामने हमारे सौन्दर्य है, जिसमें हम तन्मय हैं, तब हम भी सौन्दर्य के स्रष्टा हैं, अमर हैं।

यह सब वह कहना चाहता था—पर कह नहीं पाया। एक पंक्ति उसके मन में आई—'प्रिये, यही है अचिर अमरता का क्षण'; पर इसके बाद उसका मस्तिष्क जैसे सूना हो गया, और बार-बार 'वही है, वही है, की निरर्थक आवृत्ति करने लगा। उसने जेब से काग़ज़-पेंसिल निकाली, यह पंक्ति उस पर लिखी—शायद इस आशा में कि उससे मन कुछ आगे चले, पर नहीं···

वही है, वही है, वही है···

ज्योति ने पूछा—'क्या लिख रहे हो ?'

अनन्त ने काग़ज़ फाड़कर फेंक दिया और बोला—'कुछ नहीं, इतना यथार्थ था कि कविता में नहीं आता।'

'क्या ?'

'कि ताज के इस सौन्दर्य को एक साथ अनुभव करने में ही हम अमर हो गये हैं।'

ज्योति ने अपना सिर कोमलता से आर्द्र स्पर्श से अनन्त के कन्धे पर रख दिया। उसके सूखे बालों की एक लट अनन्त के ओठों के कोनों को छू गई। अनन्त ने जाना, उनमें एक सुरभि है, जो उनकी आत्यन्तिक है, और जिसकी तुलना के लिए उसे कुछ सूझता नहीं।

ज्योति ने पूछा—'वह मुमताज बेगम का प्रसाद तुमने ठिकाने रखा है न—वह फूल, जो मैंने क़ब्र पर से उठाकर तुम्हें दिया था ?'

अनन्त ने धीरे से कहा—'उससे भी बड़ा प्रसाद मेरे पास है इस समय–' और सिर एक ओर झुकाकर, ठोड़ी से ज्योति का सिर दबा लिया।

तभी ज्योति ने कहा—'और तुम्हारा फ़ोटो ?'

अनन्त चौंककर उछल पड़ा। कैमरे का शटर बन्द करते-करते उसे लगा, एक बड़ा महत्त्वपूर्ण क्षण बीत गया है—उसके जीवन का एकमात्र क्षण।

कैमरा उठाकर उसने कहा—'चलो, चलें।' उसके स्वर में गहरा विषाद था।

ज्योति ने कहा—'चलो।' और उठ खड़ी हुई।

कविता की वही पंक्ति 'प्रिये वही है, अचिर अमरता का क्षण' फिर अनन्त के मस्तिष्क में गूँज गई; लेकिन अभी ही उसे लगा, जैसे उसका अर्थ नष्ट हो गया हो।

———

नम्बर दस

फ़रवरी १९३७

सबेरे रतन के मन में बहुत मिठास रही हो, ऐसी बात तो नहीं थी, लेकिन अब शाम को वह कड़ुवाहट से भर गया था। सबेरे और नहीं तो एक खुलापन तो था, मिठास के प्रति एक अनुमति-भाव, कि ले तू आती है तो आ जा, मैं मना नहीं करता ; लेकिन शाम को उसने रस के प्रति अपने आपको एकदम बन्द कर लिया था। और बन्द करने ही से मालिन्य और भी बढ़ता ही जा रहा था। जैसे आग खुली हो तो जल लेती है, लेकिन बन्द कर दी जाय तो खूब धुआँ देने लगती है।

रतन का दिन बहुत लम्बा बीता था। सबेरे जिस समय से वह जेल से निकला, उस समय से वह दर-दर, गली-गली, चौक-मुहल्ले फिर आया था; कहीं उसका रुकने को मन नहीं हुआ था—कहीं उसने ऐसी जगह ही नहीं पाई थी जहाँ वह रुक सके। चलते-चलते वह थक गया था, लेकिन उन काग़ज़ के खिलौनों की तरह,जो भीतर जलते दिये के धुएँ से घूमते जाते हैं,वह भी अनथक घूमता जा रहा था। उसके भीतर एक अभूतपूर्व संघर्ष हो रहा था जैसा कि जेल में कभी नहीं हुआ था—एक ओर उसके मन में आवाज़ उठ रही थी, 'मैं जेल में नहीं हूँ, जेल में नहीं हूँ' और दूसरी ओर एक प्रतिध्वनि-सी, जो असली ध्वनि से भी तीखी ही थी, पुकार उठती थी, 'तुम सज़ा-याफ़्ता चोर हो, सजायाफ़्ता चोर।' और इस दुहरी मार से पिटता हुआ वह रुक नहीं सकता था, और भटकता जा रहा था, भटकता जा रहा था......

सूर्यास्त के समय के करीब वह जमुना के किनारे एक घाट पर पहुँच गया। अपने आगे उस चमकते हुए पानी का विस्तार देखकर मन में, दिन

भर में पहली बार, कुछ ऐसा बोध हुआ कि वह दुनिया में आ ही नहीं गया है, उससे उसका कुछ नाता भी है...

वह क्षण भर के लिए रुक गया। तब जैसे आसपास की दुनिया धीरे-धीरे उसके भीतर प्रवेश करने लगी, और उसके भीतर का धुआँ कुछ-कुछ फूट निकलने लगा। वह घाट की सीढ़ी पर बैठ गया।

फरवरी के दिन थे। शीत की कठोरता का जमाना बीत चुका था और विकल्प का जमाना आ गया था, जिसमें कभी वह कठोर होने की इच्छा से भरकर धुँधला हो जाता था, कभी मृदुता के आवेश में हल्की-सी पीली धूप से निखर-सा आता था। रतन के देखते-देखते नदी के ऊपर एक धुन्ध छाने लगी और धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगी। कुछ देर में उसी बादल में सूर्य ने उदास होकर मुँह छिपा लिया। बादल में अरुणाई नहीं आई, एक श्वेत परदा-सा आकाश पर तन गया, और उसके ऊपर जमुना-किनारे की एक मिल की चिमनी से उठता हुआ धुआँ कुछ लिखत लिखने लगा।

देखते हुए रतन को वह लिखत अच्छी नहीं लगी। उसे लगा कि जिस तरह यह उस परदे की स्वच्छता को बिगाड़ रही है, उसी तरह पृथ्वी को भी मानव की लिखत ने बिगाड़ रखा है। नहीं तो—जेल क्यों होते?

फिर एक कडुवाहट की बाढ़-सी आई और रतन उसमें डूबने-उतराने लगा। उसे याद आया कि जेल से बाहर आते समय जब उससे पूछा गया था कि उसका घर कहाँ है, ताकि उसे लौटने के लिए पैसे दिये जायँ, तब उसने पैसे लेने से इनकार कर दिया था। उसे लगा था कि जिसने उसे सज़ा दी थी, उसी सङ्गठन से पैसे लेकर वह घर जायगा, तो घर जिसके पास जा रहा है उसे मुँह दिखाने लायक नहीं रहेगा। उस सङ्गठन के प्रति उसके मन में जलन थी। चोरी उसने अवश्य की थी, लेकिन अभी तक अपने को अपराधी वह नहीं मान पाया था। चोरी करते समय उसके मन से कभी भी यह बात ओझल नहीं हुई थी कि वह चोरी कर रहा है। पर यह जानते हुए भी कि चोरी अनुचित है, वह यह भी देख रहा था कि रुपया लेना अनुचित नहीं है, और ज़रूरी भी है, और उसे नहीं मिल रहा है; यद्यपि वह उसके बदले में अपना पसीना देने को तैयार है। बल्कि, उस दिन तो वह अपना खून देने के लिए भी तैयार था...

तब—आज जब उसे रुपये मिल रहे थे, तब उसने क्यों नहीं लिये? क्यों नहीं लिये? आज क्या उसे कुछ कम ज़रूरत है? और आज क्या उनका मिलना कुछ अधिक आसान है जब कि वह 'सज़ायाफ़्ता चोर' की उपाधि पा चुका है?

उस बात को छः महीने हो गये। छः महीने पहले उसकी बहन यशोदा बहुत बीमार थी। थी—क्योंकि अब पता नहीं वह कैसी है—है भी या नहीं। उसे बचाने के लिए बेकार रतन ने भरसक कोशिश की थी, और अन्त में अपनी जमा हुई पूँजी खत्म पाकर हर तरह के काम के लिए हर तरह के यत्न किये थे...जब उसे कोई काम नहीं मिला—दवा की कीमत पाने का कोई साधन नहीं मिला—तब उसने अपनी बुद्धि के आसरे कुछ पा लेने की कोशिश की, तो क्या बुरा किया ? उसने अपनी बहन की रक्षा के लिए रुपये चुराये। किसी की हत्या नहीं की, केवल कुछ रुपये ले लिये, सो भी ऐसे आदमी के, जिसके लिए उतने रुपये खो देना कोई बड़ी बात नहीं थी। तब ?

हो सकता है कि उसका यह मोह ही गलत रहा हो। वह कौन होता है बहन की रक्षा के लिए अपने को जिम्मेवार समझनेवाला ? खुदा ने जिनको बनाया है, उनको जिलायेगा भी। नहीं भी जिलायेगा, तो उनका स्थान लेने के लिए और बना देगा। रतन खुदा का काम हथियानेवाला कौन, और हथियाकर वह कितनों को दवा-दारू पहुँचा सकेगा ? बहुत से लोग बिना दवा के मरेंगे, बहुत से बिना रोटी के मरेंगे, बहुत से बिना कपड़ों के मरेंगे, बहुत से बिना किसी वजह के यों ही मर जायँगे। क्यों रतन यह दम्भ करे कि उसकी ही बहन बचने की ज्यादा अधिकारिणी है ?

क्यों नहीं करे वह दम्भ ? उसकी बहन है। दूसरों के भी जो भाई हैं, वे उनके लिए दम्भ करें।

लेकिन जिनका कोई नहीं है...

सरकार ? लेकिन सरकार ने किसी के रुपये की रक्षा का दम्भ तो किया ही है। तब तो सरकार ठीक है, और वह—वह भी ठीक ···

लेकिन—मैं ठीक हूँ तो सरकार भी ठीक है। मैं नहीं हूँ तो सरकार भी नहीं। यानी मैं चोर नहीं हूँ, तो चोर हूँ; और चोर हूँ, तो नहीं हूँ। पागल हूँ मैं। जेल ने दिमाग खराब कर दिया है।

लेकिन पागल कहने से छुट्टी मिल जाती है ? मैंने सबेरे वे रुपये क्यों नहीं लिये ? जिस ममता की बात सोच रहा हूँ, उसकी रक्षा क्या उसी तरह नहीं होती ? यशोदा शायद जीती है—शायद बाट देख रही है। उसने दिन गिने होंगे, और आज शायद···और उस बेवकूफ ने झूठे अहङ्कार में रुपये नहीं लिये, और...

अँधेरा हो चला था। घाट पर जो एक-आध आदमी आता-जाता भी था, वह भी अब बन्द हो गया था। घाट बिल्कुल सूना था। आसपास मन्दिरों

में घण्टे बज रहे थे। कहीं-कहीं दियों का क्षीण प्रकाश भी झलक जाता था..

पहले तो घण्टानाद रतन को बहुत खटका था। लेकिन धीरे-धीरे वह कुछ आकृष्ट-सा हुआ—उसे उस स्वर में एक विचित्र चीज मालूम हुई। ये घण्टे दिन और रात न जाने कबसे ऐसे ही बजते आते हैं, इसी स्वर से, इसी गूँज से, इसी संपूर्ण तन्मयता से और इसी उपेक्षा से...कोई मरता है, कोई पैदा होता है; कोई मिलता है, कोई बिछुड़ता है; पर इनमें कोई फ़र्क नहीं होता, ये वैसे ही गूँजते रहते हैं...ये प्रार्थना के घण्टे हैं—और प्रार्थना के जो मन्त्र कभी गये जमाने में दुहराये जाते थे वही आज भी दुहराये जाते हैं—उसी ईश्वर के प्रति! हमारी प्रार्थना क्यों नहीं बदली है? हमारी जरूरतें क्यों नहीं बदलती हैं? ईश्वर क्यों नहीं बदला है?

लेकिन यशोदा वहाँ बैठी है। और मैं यहाँ हूँ—मैंने उसके लिए चोरी भी की थी, लेकिन मिलता हुआ रुपया नहीं लिया। और यहाँ बैठा हुआ ईश्वर की बात सोच रहा हूँ। क्या मैं यशोदा के पास जाना नहीं चाहता? क्या मैं ईश्वर के पास जाना चाहता हूँ?

ये घण्टे जड़ हैं, मैं जीता हूँ। तभी इनका स्वर नहीं बदलता।

मैं क्यों जीता हूँ? यशोदा के लिए मैं जेल गया था, लेकिन अब यहाँ बैठा हूँ, दिन भर में एक बार भी मैंने नहीं सोचा है कि उसके पास लौटूँ। क्या यह जीना है?

मैं स्वाधीन कहाँ हूँ? अब भी जेल में हूँ। चाहकर भी मैं नहीं जा सकता उसके पास। रेल में पकड़ा जाऊँगा, तो फिर वही जेल। मैं जेल से डरता नहीं, मैं अपराधी नहीं हूँ। पर...

जीना। घण्टे। जड़ता। मैं भी जीता न होता, तो इतना निकम्मा न होता। इतना परवश, विवश। मरना छुटकारा है।

इस एक शब्द पर आकर रतन का मन अटक गया। छुटकारा। छुटकारा।

जहाँ वह बैठा था, वहाँ धुन्ध घनी हो चली थी। आकाश में किसी तरह का प्रकाश नहीं था, इसलिए नदी का पानी भी अब तक नहीं दीख रहा था। रतन धीरे-धीरे घाट की सीढ़ियाँ उतरने लगा। पानी के तल से दो-तीन सीढ़ी ऊपर ही, जब उसे सील-सी मालूम हुई, तब उसने ध्यान से नीचे देखा और जाना कि कुछ ही आगे जमुना का पानी बहा चला जा रहा है। घाट को निःशब्द स्वर से छूता है और आगे बढ़ जाता है। मानो कह जाता है, 'लो मैं मेहमान बनकर आया तो हूँ, लेकिन तुम्हारी शान्ति भंग नहीं करता, मिल तो लिया ही, अब जाता हूँ।' और प्रणत-प्रणाम करता हुआ चल देता है।

और एक हम हैं कि आते हैं तब रोना, चिल्लाना और दर्द; जाते हैं तब रोना, पीटना और तड़पन ; रहते हैं तब झींकना, कलपना और होहल्ला।

और जेलखाने और पगली घण्टी। और हथकड़ियाँ, बेड़ियाँ और पैसे की कमी। और...

छुटकारा। छुटकारा।

यशोदा वहाँ है—थी। है या थी, इससे मुझे क्या ? मैं वहाँ नहीं जा सकता हूँ, उसके लिए कुछ नहीं कर सकता हूँ।

क्यों जी रहा हूँ मैं!

और उसे लगा, जमुना भी अपनी बड़ी-बड़ी काली आँखें खोले उसकी ओर विस्मय से देख रही है, मानो कह रही है, हाँ, मैं भी तो सोच रही हूँ कि क्यों जी रहे हो तुम...

छुटकारा...

रतन उठकर दो सीढ़ी और उतरा। अगली सीढ़ी पर पानी था। वह अपना फटा जूता उतारने को हुआ कि पानी में पैर डाले, फिर एकदम से उसे जूता उतारने के मोह पर हँसी-सी आई और वह जूतों समेत दो सीढ़ियाँ और उतर गया।

बहुत ठण्डा था पानी। लेकिन रतन का ध्यान उधर गया ही नहीं। वह घण्टा-नाद सुनता जाता था और प्रत्येक चोट पर उस एक आकर्षक शब्द को दुहराता जाता था—छुटकारा, छुटकारा।

एक सीढ़ी और उतरकर वह ठिठक गया। 'क्या यह छुटकारा है—सचमुच छुटकारा है ? किस चीज़ से छुटकारा है ! कैसे छुटकारा है ? रतन कौन है ?

क्या मेरे मरने से मेरी समस्या हल हो जायगी ? यशोदा की समस्या हल हो जायगी ! मेरी चोरी की सजा धुल जायगी ? किसी का भी कोई भी बन्धन ढीला हो जायगा !

मुझे किसी के बन्धन से क्या ? मरना तो है ही ! मुझे—डूब मरूँगा, तो कोई पूछेगा नहीं। किसी को क्या ? पूछेगा तो। हाजिरी नहीं दूँगा, तब खोज होगी। तब—

एकदम से उसे याद आया, जब वह जेल से छूटा था, तब उसे आज्ञा दी गई थी कि पुलिस में नाम लिखाये और हफ़्ते में एक दिन रिपोर्ट दिया करे। वह थाने गया था। बाहर ही एक मुटियल बूढ़े सिपाही ने उसे टोका था, और यह जानकर कि रतन अपना नाम दस नम्बर में लिखाने आया है, उसे नसीहत देनी शुरू की थी। रतन वह नहीं सह सका था, और

झल्लाये स्वर में कह उठा था, 'तुम्हें मतलब ? तुम अपना काम देखो। मैं रिपोर्ट न दूँ, तब जी में आये सो करना। अभी अपनी नसीहत रखो अपने पास।' इस गुस्ताखी से कुछ चकित और कुछ क्रुद्ध कान्स्टेबल ने अपनी बुची दाढ़ी हिलाकर अनुभव से भारी स्वर में कहा था, 'ऐं हैं! तब तो जल्द ही आओगे, जल्दी!'

जल्दी। कहाँ आऊँगा ?

डूबकर मर जाऊँगा, तो खोज होगी। लाश मिलेगी, तो किसी के दिल में दर्द होगा ? दुनिया जानेगी तो कहेगी, 'अजी होगा। दस नंबरिया बदमाश था साला। मर गया अच्छा हुआ। कहीं इधर-उधर आँख लड़ गई होगी, काम नहीं बना होगा, बस। बदमाशों के दिल थोड़े ही होता है।'

इतना भर दुनिया उसे देगी। इतना भी खूसट कंजूस की तरह घिस-घिस करके।

इसी दुनिया के लिए मैं इतनी फिक्र में पड़ा हूँ—इसी के लिए मर रहा हूँ ? इसी हृदयहीन दुनिया के लिए मैं अपने जिगर का खून दे रहा हूँ ?

ऐसी की तैसी दुनिया की। सोच ही सब रोगों की जड़ है, वही तो है जिससे छुटकारा लेना चाहिए। पाप-पुण्य क्या हैं ? सोचें तो चोरी है, सोचें तो ठीक है। सब चोर हैं, सब भले हैं।

आज मैंने दस चोरियाँ और [illegible] शर्तीं—कौन कह सकता है कि पकड़ा ही जाता ? घर भी जाता, यशोदा से भी मिलता, जो जी में आता करता—न होता तो जेल ही तो आता, जहाँ हो आया हूँ ? जैसा अब हूँ, इससे जेल क्या बुरी है ?

रतन दृढ़ कदमों से घाट की सीढ़ियाँ चढ़ने लगा। मन का बोझा इतना हल्का हो गया था कि वह अपने पैरों की चाप के साथ-साथ ताल देकर कहने लगा, 'ऐसी—तैसी—दुनिया—की!'

घाट के ऊपर तक पहुँचते-पहुँचते उसने तय कर लिया था कि वह फिर चोरी करेगा, और फिर जेल जायगा। पहली बार चोरी करने के लिए जेल गया था, अबकी बार जेल जाने के लिए चोरी करेगा।

(२)

तब शायद साढ़े बारह बजे थे। रतन अपनी गाढ़े की धोती से फाड़े हुए एक टुकड़े में कुछ नोट और कुछ रुपये बाँधे उस छोटी-सी पोटली को एक मुट्ठी में मजबूती से थामे हुए, दूसरे हाथ में जूते उठाये, एक ऊँचे घर की दीवार के साथ सटता हुआ दबे पैर एक ओर को हट रहा था।

दूर कहीं आधा घण्टा खड़का टन डम्! सरदी की धुँधली रात में उस

स्वर ने रतन को चौंका दिया। उसके बाद ही उसे लगा कि पास कहीं खटका हो रहा है। शायद लोग जाग उठे हैं। शायद अभी उसकी चोरी पकड़ी जायगी। शायद—

वह लपककर सड़क के पार हो लिया। वहाँ एक छोटी-सी झोंपड़ी थी, जिसके छोटे-से झरोखे से टिमटिमाती-सी रोशनी बाहर झाँकने की कोशिश कर रही थी। रतन जानता था कि प्रकाश की ओट में अँधेरा अधिक मालूम होता है, वहाँ पड़ी चीज़ दिखती नहीं; इसलिए वह उस झरोखे से ज़रा आगे बढ़कर ही, फूस के छप्पर के नीचे दबककर, बैठ रहा।

पहले तो उसे लगा कि वह यों ही डर गया। अपने हृदय की धक्-धक् के सिवाय कोई स्वर उसे नहीं सुन पड़ा। लेकिन बैठे-बैठे जब वह धड़कन जरा कम हुई, तब उसे जान पड़ा कि सचमुच कहीं कोलाहल हो रहा है। पर वह बहुत दूर पर है, जिस मकान में रतन ने चोरी की है उससे बहुत आगे कहीं। उस शोर का रतन से कोई संबन्ध नहीं हो सकता।

पर—यह स्वर तो बहुत पास कहीं है! रतन ने सुनने की कोशिश की कि वह किधर से आ रहा है, पर ऐसा लगता था, मानो सभी ओर से धीरे-धीरे की जा रही बातचीत का स्वर आ रहा हो—कोई खास दिशा उसकी जान नहीं पड़ रही थी...

क्या मैं सो तो नहीं रहा—स्वप्न तो नहीं देख रहा? रतन ने अपने को कुछ हिलाया, ज़रा आगे बढ़कर झरोखे के बिल्कुल पास आकर आगे देखने की कोशिश करने लगा।

आगे झुकते ही स्वर साफ हो गया, रतन ने जान लिया कि वह झरोखे में से होता हुआ झोंपड़े के भीतर से आ रहा है। और वह बिना खास चेष्टा किये हुए भी उसे ध्यान से सुनने लगा।

एक पुरुष का स्वर, जो अपने से ही बात करता मालूम होता है। उस स्वर में दुःख है, निराशा है, थोड़ी-सी कुढ़न भी है।

'मैं और क्या करूँ अब। अब तो उधार भी नहीं मिलता। ताने मिलते हैं सो अलग।'

थोड़ी देर बाद एक दूसरा स्वर—क्षीण, कुछ उदास, लेकिन साथ ही जैसे एक वात्सल्य भाव लिये—

'तुम भी क्यों फ़िक्र किये जाते हो? ऐसे तो तुम भी बीमार हो जाओगे। मेरी दवा का क्या है? सरकारी अस्पताल से ले आया करो—वहाँ तो मुफ़्त मिल जाती है।'

'पिछली बार वहीं से तो लाया था। पर फायदा नहीं होता। हो कैसे,

डाक्टर देखे मरीज को तब न दवा हो? वह यहाँ आता नहीं, बुलाने को पैसे नही हैं।'

'डाक्टर को बुलाकर क्या होगा। अब तो मुझे मरना ही है। मेरे करम ही खोटे थे—तुम्हारी सेवा तो की नहीं, उलटे दुःख इतना दिया। यही था, तो पहले ही मर जाती, तुम्हें इतना तङ्ग भी न करती और—'

'ऐसी बात मत करो, प्रेमा! मैं—'

काफ़ी देर तक मौन रहा। आगे कुछ बात हो, इसकी प्रतीक्षा में बैठे-बैठ रतन जब ऊब गया, तब उसने झरोखे के और पास सरककर भीतर झाँका। एक ही झाँकी में भीतर का दृश्य देखकर वह एकदम से पीछे हट गया—डरकर नहीं, कुछ सहमा हुआ-सा...

एक टुटियल चारपाई पर एक स्त्री लेटी हुई थी। उसका सब शरीर और चारपाई का भी काफी-सा हिस्सा, एक मैली लाल गाढ़े की रजाई से ढँका हुआ था; केवल नाक और सिर बाहर दीखते थे। नाक की पीली पड़ी हुई त्वचा प्रकाश में अजब तरह से चमक रही थी। पीछे हटाये हुए बहुत रूखे और उलझे हुए बालों के भूरेपन के कारण माथा बहुत सफेद और बहुत चौड़ा लग रहा था। और आँखें—आँखें एक स्थिर, खुली, अर्थभरी दृष्टि से सिरहाने बैठे पुरुष के मुँह पर लगी हुई थीं।

और पुरुष उस स्त्री के सिर के पास, दोनों पैर समेटकर चारपाई की बाँही पर बैठा हुआ था। एक हाथ उसका घुटनों पर था जिस पर उसने ठोड़ी टेक रखी थी; दूसरा जैसे निरुद्देश्य, भूला हुआ-सा, स्त्री के सिरहाने पड़ा हुआ था।

रतन सहमा हुआ-सा बैठा था। उसका मन न जाने कहाँ-कहाँ दौड़ने लगा था, बिजली के तीव्र वेग से; पर बाहर से वह बहुत शान्त स्तब्ध-सा हो गया था। जैसे लट्टू जब बहुत तेजी से घूमता है तब धुरी पर बिलकुल स्थिर हो जाता है, वैसे ही रतन का मन अतीत और भविष्यत् में पागल-सा भटकता हुआ एक धुरी पर स्थिर हो गया था—उस स्त्री प्रेमा की आँखों पर, जिनमें मानो सरस्वती बस रही थी—इतनी अर्थपूर्ण हो रही थीं वे...

उस सारगर्भित मौन में रतन ने एक लंबी साँस की आवाज़ सुनी। उसके बाद फौरन् ही पुरुष का स्वर आया—अब पहले-सा शिथिल नहीं, अब जैसे प्रबल आवेग से भरा हुआ, गूँजता हुआ-सा—

'प्रेमा, कभी जी में आता है कहीं डाका डालूँ—ये जो पड़ोस में मोटे-मोटे लाला लोग रहते हैं, इनको मार डालूँ और इनकी हवेलियाँ लूट लूँ—या उस सरकारी डाक्टर को चुटिया पकड़कर घसीट लाऊँ, जिसने

आने की बात पर अकड़कर कहा था कि सरकारी डाक्टर कोई रास्ते की धूल नहीं है जो हर कोई उठा ले जाये। कभी सोचता हूँ कि...लेकिन फिर ख़्याल आता है, जो लोग सरकारी डाक्टर को बुला सकते हैं, वे भी तो कभी कुढ़ते होंगे कि विलायत से डाक्टर बुलाकर शायद इलाज ठीक हो सकता! यह रोग तो ऊपर से नीचे तक लगा है, मैं एक लाला को लूटकर क्या कर लूँगा? पर प्रेमा, किसी तरह तुम्हें अच्छा कर सकूँ तो—

पुरुष एकदम चुप हो गया। रतन ने फिर झाँककर देखा—प्रेमा का एक हाथ पुरुष के कन्धे पर था और शायद उसके ओठों को छूने की कोशिश कर रहा था। रतन फिर पीछे को हट गया, और शून्य की ओर देखने लगा।

पुरुष का स्वर फिर बोला, 'प्रेमा, अगर चोरी करके या लूटकर तुम्हें अच्छा भी कर लूँगा, तो भी सुखी नहीं होऊँगा। मुझे लगता है—'

थोड़ी देर रुककर फिर—'शायद हमारे मन में पाप का झूठा डर होता है—डर ही से पाप बनते हैं। पर जाता भी नहीं वह! मैं सोचता हूँ—मैं जान देकर तुम्हें अच्छा कर दूँ—' इस बीच में स्वर फिर रुक गया, मानो किसी ने मुँह के आगे हाथ रख दिया हो—'पर एक छोटी-सी चोरी नहीं होती।'

एक शब्द सुनकर रतन ने फिर भीतर झाँककर देखा। पुरुष उठकर खड़ा हो गया था। एक हाथ से सिरहाना पकड़ते हुए, दूसरे से अपना माथा, वह सिर उठाकर छत की ओर देख रहा था। एकाएक उसने कहा—'भगवन्!' उसके हाथ शिथिल-से हो गये, कन्धे लटक गये और वह एक ओर को हटने लगा। तभी प्रेमा ने हाथ बढ़ाकर, गर्दन जरा मोड़कर, आर्द्र स्वर से पुकारकर कहा—'मेरे पास आओ।' गर्दन मोड़ने से दिये का पूरा प्रकाश उसके मुँहपर चमक उठा।

एक ज़रा-सी बात से मानो रतन का हृदय हजारों और करोड़ों बरसों का व्यवधान पार कर गया—एक ही बहुत बड़ी-सी धड़कन में वह रतन का हृदय न रहकर उस आदम का हृदय हो गया जो अपने पाप के लिए दण्ड पाकर अँधियारे में अपनी आदिम प्रेयसी को खोज रहा था—और उसे लगा कि सारा संसार उस स्त्री की आवाज में चीखकर पुकार उठा है, 'मेरे पास आओ!'—उस स्त्री की, जो सुन्दरी नहीं है, लेकिन जिसकी उस दृष्टि के लिए रतन एक बार नहीं, हज़ार बार चोरी कर सकता और दण्ड भी भुगत सकता!

रतन ने अपने को सँभालने के लिए झरोखे का चौखटा पकड़ लिया—

और फौरन् ही छोड़ दिया। जिस हाथ से उसने चौखटा पकड़ा था, उसी में नोटों और रुपयों की पोटली थी।

रतन ने एक बार उस पोटली की ओर देखा, एक बार प्रेमा की ओर, एक बार उस पुरुष की ओर, फिर धीरे से कहा—'नालायक !'

फिर उसने पोटली झरोखे में रख दी। एक बार चारों ओर झाँककर देखा, और लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ वहाँ से हट गया।

(३)

रतन का शरीर ढीला पड़ गया। वह इस हद तक खुश भी हो गया कि किसी किस्म कि कोई फ़िक्र उसके मन में न रही। एक हलवाई की दूकान के बाहर पड़ा हुआ तख्त देखकर वह रुक गया। तख्त पर बैठकर उसने अपने गीले जूते उतारे, उन पर अपनी चादर का एक छोर रखकर, इस तकिये पर सिर रखकर वह लेट गया। बाकी चादर अपने ऊपर ओढ़कर वह आकाश की ओर देखने लगा।

तारे थे। बहुत साफ नहीं दिखते थे, धुन्ध के कारण कभी छिप भी जाते थे, पर थे। कभी पाँच, कभी चार, कभी आठ-दस—वे दीखते और मिट जाते, मिटते और फिर दीखने लगते। धुन्ध के इस खेल में मानो रतन भी घुलने लगा। उसकी आँख लग गई।

नालायक वह ?

चौंककर रतन उठ बैठा। क्या उसने कुछ देखा, या कुछ सोचा, या कुछ याद आ गया ? कोड़े की मार से आहत-सा वह उठ बैठा।

नालायक वह ? और मैं नहीं नालायक, जिसने एक तो चोरी की, दूसरे अपनी बहन को भुलाया और तीसरे हाथ आई हुई दौलत फेंक दी ?

चोर। दस नंबर का बदमाश। और—बेवकूफ़ !

चोरी मैंने किस लिए की थी ! क्या यशोदा के लिए ! क्या चोरी करने ही के लिए नहीं की मैंने चोरी ! और फिर रुपये वहाँ क्यों पटक आया ? उस आदमी को दे आया जो—जो प्रेमा को मरती देख सकता है और हाथ-पैर नहीं हिलाता ?

उसका कुछ उसूल तो था। नहीं करता चोरी, तो नहीं करता। फिर चाहे कोई मर जाय। कुछ बात तो हुई।

प्रेमा की शक्ल यशोदा से मिलती थी। झूठ—प्रेमा तो ऐसी कुरूप थी ! लेकिन उसका गर्दन मोड़कर पुकारना—यशोदा भी तो ऐसे ही पुकार उठती थी जब मैं पास नहीं होता था !

मेरे पास फिर रुपये आते, तो मैं फिर दे देता—सौ बार दे देता।

हाँ, क्यों नहीं दे देता। चोरी के ही तो थे रुपये। चोरी के रुपये से पुण्य कमाना चाहता हूँ। कुछ कमाकर दिये होते, तब भी बात होती।

दिये भी कब मैंने यशोदा की याद को! मैंने प्रेमा को दिये, प्रेमा की आँखों को दिये, उस प्रेमा को, जो मेरी बहन नहीं, किसी दूसरे की घरवाली है! पाप को दिये।

लेकिन प्रेमा सुन्दरी कब थी? पाप करने में भी अक्ल खर्च होती है। मैंने रुपये फेंक दिये। नालायकी की। बेवकूफी की। चोरी तो की थी, पकड़ा भी नहीं गया था। रुपये पास रखता, कई दिन काम आते, अच्छी तरह रहता, मौज करता, दुनिया को दाँत दिखाता, उस मुच्छी दाढ़ीवाले सिपाही को दाँत दिखाता, सबकी ऐसी तैसी करता, जो मुझे दस नंबर का बदमाश समझते हैं। और जब चुक जाते तब जेल तो कहीं गया नहीं था—या शायद बच भी जाता।

लेकिन प्रेमा की आँखें वैसी क्यों थीं?

नहीं थीं आँखें। रतन ही अन्धा था, अन्धा है। लेकिन...

गलियों में चक्कर काटते हुए रतन ने फ़ैसला कर दिया कि वह लौटकर जायगा और अपनी पोटली वहाँ से उठा लायगा जहाँ उसे छोड़ आया था। अभी रात खत्म नहीं हुई थी—अभी पोटली किसने उठा ली होगी? दिन निकलने के बाद, बल्कि और भी देर से, जब घर की सफ़ाई होने लगेगी, तभी कोई उसे उठायेगा, यही सोचकर वह उल्टे पाँव लौट पड़ा।

लेकिन इन पिछले दो घण्टों में वह कितनी गलियों में से होता हुआ भटक आया था, इसका उसे कुछ अनुमान नहीं था। वह याद करने की कोशिश करता, कहाँ से वह किधर को मुड़ा था, ताकि उसी रास्ते लौटे, लेकिन जिस गली को भी वह कुछ पहचानकर आगे बढ़ता, उसी में थोड़ी दूर जाकर पाता कि वह तो कोई और ही रास्ता है, दाईं ओर को जो हरे किवाड़ हैं वे तो उसके रास्ते में नहीं आये थे, या बाईं ओर को जो बहुत बड़ा-सा साइनबोर्ड किसी वैद्य का लगा हुआ है वह तो उसने नहीं देखा था, और सामने की दीवार से जो बड़े-बड़े अक्षर मानो मुँह बाये अपने काले हलक से यह सूचना उगले दे रहे हैं कि अमुक तेल सब चर्मरोगों की अचूक दवा है, उसे देखकर कोई क्या भूल सकता? फिर भी मुट्ठियाँ भींचकर अपनी थकान को वश में कर लेने की कोशिश करता हुआ रतन चलता जा रहा था और सोच रहा था कि कभी तो वह झोंपड़ी मिलेगी ही।

धीरे-धीरे रात का रंग बदल चला। हवा में एकाएक शीतलता भी बढ़ गई और नमी भी, उस गीले स्पर्श से मानो एकाएक रात ने जान लिया

कि वह नङ्गी है और लज्जित होकर, कुछ सिहरकर, धुन्ध के आवरण में छिप गई। मैला-सा कुहासा रतन की नासाओं में भरने लगा, आँखों में चुभने लगा। उसने एक बार आँख मलकर सामने देखा, फिर यह समझ कर कि अब सवेरा होने ही वाला है और उस झोंपड़े की तलाश बेकार है, वह एक ओर मुड़ने को हुआ ही था कि उसने देखा, उसकी बगल में वही मकान है जिसमें से उसने चोरी की थी।

वह अनपहचाने हुए पथ पर जल्दी-जल्दी झोंपड़ी की ओर बढ़ने लगा। चारों ओर कुछ अस्पष्ट-सा शोर था—शहर जाग रहा था। ऐसे समय कोई आता-जाता किसी का ध्यान आकृष्ट नहीं करेगा, यह सोचकर रतन बढ़ा जा रहा था।

झोंपड़ी से कुछ दूर पर ही कोलाहल सुनकर रतन ठिठक गया। आँखें सिकोड़कर सामने देखकर उसने पहचाना। झोंपड़ी के आगे भीड़ लग रही है—चोरी का पता लग गया है और चोर भी पकड़ा गया है।

रतन स्तंभित रह गया।

लेकिन फौरन् ही एक विद्रूप की लहर-सी उस पर छाई—बहुत ठीक हुआ। यही होना चाहिए था। साले में इतनी हिम्मत नहीं थी कि प्रेमा की जान बचाये—चोरी करने से डरता था! मेरी चोरी का माल उसे पचता कैसे—भुगते अब!

प्रेमा की आँखें—मैंने चोरी करके अपनी जान जोखिम में डाली थी, उसका फल वह कैसे लेता? वह तो नालायक है, बेवकूफ है—हिजड़ा है! चोर पकड़ा गया है, चोरी की सजा काटे। प्रेमा का पति होने का दावा करता है—प्रेमा—का—पति? यह!

रतन ने लपककर चौकी के सिपाही के हाथ से उस आदमी का हाथ छुड़ाकर, सिपाही को पीछे धकेलते हुए उद्धत और कर्कश स्वर में कहा, 'हटो, तुम! चोरी मैंने की थी। वह पोटली मैं यहाँ भूल गया था और अब लेने आया हूँ।'

सिपाही हक्का-बक्का सा हो गया। रतन की बाँह पकड़ने की कोशिश करते हुए किसी तरह उसने कहा, 'तुम पागल हो क्या?' लेकिन इससे पहले कि रतन अपने भिंचे हुए दाँतों में से पीसकर कहे—'हाँ, हूँ पागल!' उस सिपाही की आँखों में पहचान की एक बिजली-सी दौड़ गई और उसने एकदम से अपनी बुर्ची दाढ़ी लटकाकर ढीले मुँह से कहा—'अच्छा, तुम!'

सभ्यता का एक दिन

दिसम्बर १९३६

नरेन्द्र जीवन के झमेलों से बेफिक्र रहता था। लापरवाही उसका सिद्धान्त था। राह चलते जो मिल गया, ले लिया और चलते बने। सुख मिला, हँस लिए; दुःख मिला, सह लिया। पैसे मिल गये तो इस हाथ ले उस हाथ खर्च कर डाले, फटकार मिली तो इस कान सुनी उस कान बाहर कर दी। ऐसा वह तभी से हुआ था जब घर-बार छोड़कर भाग आया था, पहले ऐसा नहीं था वह। लेकिन फिर भी इस थोड़े अर्से में ही, यह ढंग उस पर ऐसा बैठ गया था कि इसके अलावा और किसी ढंग की कल्पना ही वह नहीं कर सकता था। इस वर्ष भर में कई बार वह भूखा लेट गया, कई बार सर्दी से ठिठुरता पड़ा रहा, कई बार सड़क की पटरी पर बैठकर भीगा किया, लेकिन क्या उसे कभी उस पीछे छूटे हुए घर की याद आई? कभी नहीं। ऐसे समय में दार्शनिकता के झोले में अपने को छिपा लेता, कुछ गा-गुन-गुन लेता, और बस, ठीक रहता, बेफिक्र ही नहीं, बेफिक्र रहता, लापरवाह रहता।

आज सबेरे वह बेफिक्र ही नहीं खुश था। उसकी जेब में एक रुपया था—यह सोचने की उसे जरूरत नहीं थी कि वह कैसे वहाँ पहुँचा है, वहाँ पहुँचना चाहिए था या नहीं। वह रुपया था, और नरेन्द्र की जेब में था, बस इतना काफ़ी था।

नरेन्द्र दोनों हाथ जेब में डाले, एक में रुपया थामे, सीटी बजाता हुआ शहर की मुख्य सड़क पर चला जा रहा था। मन में कोई विचार नहीं था। केवल सीटी के गीत पर ताल देती हुई सन्तोष की एक लहर-सी थी।

तभी नरेन्द्र ने सुना, एक रेडियो कम्पनी के भीतर से रेडियो चिल्ला रहा है—अपना भी विज्ञापन कर रहा है और अन्य चीजों का भी......

'...इन न्यामतों में एक है कैलिफ़ोर्निया के आड़ू। एक दिन था, जब अमरीका के बाहर, बल्कि कैलिफ़ोर्निया के बाहर, ये आड़ू एक सपना थे। लोग इनका नाम सुनते थे, और आह भर लेते थे। जो अमीर थे, वे कैलिफ़ोर्निया जाते थे और लौटकर उन आड़ुओं की तारीफ करके अपने दोस्तों को ईर्ष्या से जलाते थे; जिन्हें खाने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ उतरती हैं; जिन्हें पकाने के लिए फरिश्ते अपनी गर्म साँसों से उन्हें फूँक-फूँककर लाल करते हैं...आज आप यहीं पर उन्हें मामूली दाम पर ख़रीदकर खा सकते हैं। आज...'

नरेन्द्र आगे बढ़ गया। अब उसके मन में उस सन्तोष के साथ एक और भी विचार अस्पष्ट रूप से छा गया—कि कैलिफ़ोर्निया के आड़ू मामूली दाम पर मिलते हैं, और उसकी जेब में पूरा एक रुपया है।

एक दूकान पर उसने बोर्ड लगा देखा—'सब प्रकार के अचार, मुरब्बे, जैम, डिब्बे के फल—' और आगे बढ़ने की चिन्ता न कर भीतर घुस गया।

एक छोटा डिब्बा कैलिफोर्निया के आड़ू। साढ़े पाँच आने।

नरेन्द्र बाकी पैसे जेब में डालकर और टीन हाथ में लेकर बाहर आ गया। बाहर आकर उसने देखा, सड़क पर भीड़ है। वह एक गली में हो लिया, और धीरे-धीरे चलने लगा। डिब्बे पर लगे हुए काग़ज़ का चित्र उसने देखा, फिर ऊपर लिखी हुई पूरी इबारत उसने पढ़ डाली, कम्पनी के नाम तक, फिर चाकू न होने के कारण एक मकान की पत्थर की सीढ़ी के कोने पर पटककर डिब्बे में छेद किया, फिर दाँतों से खींचकर ढक्कन अलग कर दिया। तब, एक बार चारों ओर देखकर वह चलता-चलता ही आड़ू खाने लगा।

और दार्शनिकता भी उसके भीतर चेत उठी।

...न्यामत। स्वर्ग की अप्सराएँ। कैसी होती होंगी वे? फ़रिश्ते। पहले तो केवल कैलिफ़ोर्निया खाती थी, अब दुनिया इन्हें खाती होगी। उपज बहुत बढ़ गई होगी। अब भी फ़रिश्ते ही पकाते होंगे? कितने फ़रिश्ते लगे होंगे इस काम में?...उँह, बकवास। विज्ञापनबाजी।

लेकिन फिर भी बड़ी बात है। आज मैंने रेडियो पर सुना। रेडियो विदेशी कारख़ाने में बना। उसके अलग-अलग हिस्से बनाने और पैक करने और यहाँ तक पहुँचाने में हजारों आदमियों के हाथ लगे होंगे। हजारों ने यह मेहनत की कि मैं, नरेन्द्र इस ख़बर को सुनूँ। और आड़ू। कैलिफ़ोर्निया

में तोड़े गये, छाँटे गये, पकाये गये, गिने गये, तौले गये। डिब्बे में डाले गये, जिसके लिए डिब्बे का कारख़ाना बना। मोटर ने लदकर स्टेशन आये—मोटर का कारख़ाना काम आया। रेल में लदे, जहाज़ में लदे। लोहे के कारख़ाने काम में आये। डालने की मशीनें काम आईं, बिजली-घर काम आये, कील बनानेवाले, पुर्जे-पेंच बनानेवाले, रस्से बनानेवाले, झण्डे बनानेवाले, नावें बनानेवाले, हाँ, तोपें तक बनानेवाले, सब काम आये। बन्दरगाह के राज-मज़दूर काम आये, कुली काम आये। शायद कुल दुनिया का एक गिना जाने लायक हिस्सा काम आया कि ये आड़ू वहाँ पहुँचे—और मैंने इतने हज़ारों आदमियों का श्रम ख़रीदा है—साढ़े पाँच आने में! और वह साढ़े पाँच आने भी हैं आड़ुओं की कीमत, उस श्रम की नहीं।

तो ?

यह क्या है ? कैसे है ? क्यों है ?

क्या पहले भी ऐसे ही था ? पहले तो एक प्राणी अपना पेट तब भरता था, जब दूसरे को मार डाले—उसी को भूनकर, या कच्चा ही खा जाय। और अब...

आड़ुओं का डिब्बा खाली हो गया। नरेन्द्र ने एक बार उसे मुँह के पास ले जाकर भीतर देखा, उसमें कुछ नहीं था। लेकिन फिर भी वह एक क्षण देखता ही रहा।

यह सब विज्ञान की देन है। विज्ञान से ही ऋद्धि मिलती है—और सुख। असल में यह सब सभ्यता की देन है। सभ्यता ने ही विज्ञान दिया है, सभ्यता ही इस दुनिया को सहयोग में चला रही है।

सभ्यता !

नरेन्द्र ने एक साँस लेकर टीन फेंक दिया। उसके गिरने की आवाज़ ने मानो फिर कहा, 'सभ्यता।'

नरेन्द्र को लगा कि वह सभ्यता से जैसे अलग है, अछूत है, निर्वासित है।'

वह गली से लौटकर सड़क पर आया। आधे घण्टे बाद उसने पाया कि वह 'सब प्रकार के अचार, मुरब्बे, जैम, डिब्बे के फल, टॉफी, चॉकलेट, बिस्कुट इत्यादि' बेचनेवाले हुसैन भाई-करीम भाई के यहाँ लगभग साढ़े पाँच आने रोज़—दस रुपये मासिक का नौकर है।

(२)

यह थी सबेरे की बात। दुपहर में जब उसे आधे घण्टे की छुट्टी दी गई,

तब उस लापरवाह ने एक और डिब्बा कैलिफोर्नियन आड़ुओं का ख़रीदा, गली में घुसकर खोला, और धीरे-धीरे टहलता हुआ खाने लगा।

ज्यों-ज्यों उसकी जीभ उस नये परिचित स्वाद के अनुभव से तृप्त होने लगी, त्यों त्यों उसका हृदय दर्शन की बजाय एक अनुग्रह के भाव से भरने लगा। उसे लगने लगा कि वह संसार का भला चाहता है, उसके लिए सचेष्ट है। उसके मन में इच्छा हुई कि संसार के प्रति अपनी सद्भावना को किसी तरह किसी पर प्रकट कर सके, अपने अनुग्रह के घेरे में किसी को घेरकर अपना सके। सवेरे जिस निर्वासन का, सभ्यता के अलगाव का अनुभव उसे हुआ था, उसे मिटा दे, सभ्यता की आत्मा से एक हो जाय।

तभी उसे सामने से एक आदमी आता हुआ दिखाई दिया जो मामूली गाढ़े का फटा कुरता और घुटने तक की धोती बाँधे था, लोहे के फ्रेम का टेढ़ा चश्मा लगाये था, और सिर झुकाये चल रहा था। जब वह नरेन्द्र के पास आ गया, तब नरेन्द्र ने एकाएक उसकी ओर आड़ू का डिब्बा बढ़ाते हुए कहा, 'लीजिए—मेरे साथ हिस्सा बटाइएगा ?'

उस आदमी ने कुछ चौंक-सा डिब्बे की ओर देखा—नरेन्द्र को लगा कि वह भूखी-सी आँखों से डिब्बे पर लिखी इबारत पढ़ रहा है। नरेन्द्र हाथ बढ़ाये, साकार आग्रह बना खड़ा रहा।

एकाएक उस व्यक्ति ने कुछ पीछे हटकर कहा—'तुम्हें शर्म नहीं आती कि देश का रुपया विदेशी माल पर उड़ा रहे हो ! और वह भी ग़ैर जरूरी माल पर, निरी स्वाद-लोलुपता के लिए ?'

नरेन्द्र सहम गया। किसी तरह बोला—'यह कैलिफ़ोर्निया के आड़ू हैं। सभ्यता की देन है।'

'जी हाँ। यह शैतान की चाह है। हमारे पतन की निशानी है। आपका कलंक है। यह—'

'सब लोग तो खाते हैं—'

'खाते हैं। लेकिन तुम जानते हो, संसार का कितना बड़ा हिस्सा आज पतन के मुँह में जा रहा है ? हमारे भीतर घुन लग गया है। हम सड़ रहे हैं। और अगर शीघ्र न चेते तो—'

'क्या तुम्हें भूख नहीं लगती ?'

'लगती है, लेकिन मैं उसे अपने भाइयों का जिगर खाकर नहीं मिटाना चाहता। यह भूख ही, सब ओर फैला हुआ विनाश ही हमें आत्माभिमान की शिक्षा देता है।'

वह व्यक्ति एक बार फिर घृणा से उस डिब्बे की ओर देखकर आगे बढ़ गया।

नरेन्द्र भी स्थिर दृष्टि से उस डिब्बे को पकड़े हुए अपने हाथ की ओर देखता रहा। उसका मन जैसे पथरा गया था, और हाथ भी अवश हो गया था, धीरे-धीरे हाथ की पकड़ शिथिल होती गई, और एकाएक डिब्बा उसके हाथ से छूट पड़ा।

वह एकदम से जाग गया।

वह ठीक कहता है। यह कलंक है। ज़बान की चाह है।

सब ओर पतन है। सभ्यता ही ने हमें इस पतन की ओर बढ़ाया है। विज्ञान ने हमें सुख नहीं, प्राचुर्य दिया है और प्राचुर्य की सड़ाँध ने हमारा दिमाग विकृत कर दिया है।

पतन। पतन। सभ्यता। लेकिन पतन में आत्माभिमान जागा है।

सभ्यता! आत्माभिमान!

नरेन्द्र दृढ़ कदमों से लौट पड़ा। हुसैन भाई-करीम भाई की दुकान पर पहुँचकर उसने कहा, 'मैं आपकी नौकरी नहीं करूँगा।'

'क्यों?'

'आप विदेशी माल बेचते हैं—वह हमारा कलंक है।'

मालिक मुस्करा दिये। नरेन्द्र बाहर निकलकर फिर सड़क पर टहलने लगा। कोई व्यक्ति उसकी ओर देखता तो वह कुछ अकड़ जाता, और उसके भीतर मानो एक शब्द गूँज उठता—'आत्माभिमान।'

(३)

शाम को नरेन्द्र टहलते-टहलते थक गया। सीटी बजाने की इच्छा भी उसे न हुई। कुछ ठण्ड-सी भी हो चली।

नरेन्द्र ने पीठ झुका ली, हाथ जेब में डाल लिये।

साढ़े पाँच और साढ़े पाँच ग्यारह। पाँच आने।

नरेन्द्र को याद आया कि पाँच आने उसकी जेब में बाकी हैं। साथ ही यह भी विचार आया कि उसे अभी अपने पतन का प्रायश्चित्त करना है।

वह एक दूकान में गया और देशी मुरब्बे माँगने लगा। एक दूकान, दूसरी दूकान, तीसरी दूकान। आखिर उसे हिन्दुस्तान ही में बना हुआ आड़ू रब्बे का डिब्बा मिल ही गया—दाम पाँच आने।

नरेन्द्र ने डिब्बा लिया, पैसे चुकाये और बाहर निकला। उसका अभिमान दीप्त हो उठा। उसने देश के नाम पर पाँच आने खर्च किये हैं। पाँच

आने—जो उसके अन्तिम पाँच आने थे, जिनके जाने में उसकी जेब खाली हो गई है।

अब वह गली में नहीं गया। जितना अभिमान उसमें भर रहा था, उसके लिए गली बहुत तंग जगह थी। वह सड़क पर ही एक दूकान के बाहर पड़े हुए तख्त पर बैठ गया और डिब्बा खोलकर खाने लगा।

मुरब्बा खाकर, उँगली चाटकर, डिब्बे के भीतर झाँककर, उँगली फिर उसमें फिराकर और मुँह में डालकर, ओठ चूसकर, अन्त में नरेन्द्र ने डिब्बा फेंक दिया। डिब्बा खनखनाता हुआ लुढ़कता चला गया। नाली में गिरा। शान्ति हो गई।

एक ओर से एक लड़का दौड़ा हुआ आया। उसने डिब्बा उठाया, झटक-कर नाली की कीच झाड़ दी; और चलने को हुआ।

दूसरी ओर से दो लड़के निकले, पहले से डिब्बा छीनने की कोशिश में लगे।

तीसरी ओर से एक नंग-धड़ंग मैला बच्चा निकला और ललचाई आँखों से डिब्बे की ओर देखने लगा।

चौथी ओर से कद में कुछ बड़ा एक लड़का निकला, अधिकार के स्वर में बोला, 'हटो।' और डिब्बा छीनकर बोला—'अरे, यह तो जैम का डिब्बा है।' दो काली उँगलियाँ भीतर घुसीं, घूमीं, बाहर निकलीं और मुँह में चली गईं।

तब मार-पीट, गाली-गलौज, नोच-खसोट होने लगी। डिब्बे में कुछ नहीं था, उन शरीरों में भी कुछ नही था, लेकिन कुछ चीथड़े इधर-उधर गिरे, कुछ नोचे हुए बाल, कुछ मैला रक्त।

नरेन्द्र देखता रहा। उसका हृदय ग्लानि से भर गया। क्या यही है हमारा आत्माभिमान ? यही है हमारी सभ्यता ?

नहीं, सभ्यता ने हमें कुछ नहीं दिया। विज्ञान नहीं दिया। सुख नहीं दिया। वह क्रिया-शीलता भी नहीं दी, जिससे प्राचुर्य आता है। आत्म-गौरव नहीं दिया। वह पतन ही दिया जिससे अभिमान जागता है।

सभ्यता ने हमें कुछ नहीं दिया।

दिया है। यही दिया है। यह—यह—यह...

(४)

एकदम से नरेन्द्र को जैसे किसी ने थप्पड़ मार दिया हो। भूतकाल में से एक आग की लपट-सी निकली जो दार्शनिकता को, बेफिक्री को, लापर-वाही को भस्म कर गई। उसे याद आया कि उसके घरवाले भी हैं जिन्हें वह छोड़ आया है! उसके भाई-बहिन, क्या वे भी ऐसे होंगे ? उसकी स्त्री—क्या

वह ऐसी ही संतान की माँ होगी ? उसका शिशु—क्या वह भी ऐसा ही होगा, नाली में पड़े हुए गन्दे टीन के लिए लड़ मरनेवाला सभ्य ?

हाँ, उसके भाई बहिन, उसकी स्त्री, उसका बच्चा भी भूखे होंगे। और बिल्कुल अकेले होंगे—एक-दूसरे के शत्रु।

वह उन्हें इस हालत से बचा सकता था। शायद अब भी बचा सकता है। सभ्यता से बचा सकता है।

वे गाँव में हैं, जहाँ सभ्यता अभी नहीं पहुँची। उसे भी गाँव जाना चाहिए। सभ्यता के बाहर निकलना चाहिए। लेकिन कैसे ? कैसे ?

गाँव दूर है। उसे रेल का टिकट चाहिए। उसे ताँगा चाहिए। उसे बल के लिए भोजन चाहिए। कैसे ?

उसे यह सब-कुछ चाहिए। इस सब-कुछ के लिए पैसा चाहिए। कैसे ?

कैसे ? उसे मजूरी चाहिए। उसे नौकरी चाहिए। उसे चाहिए—उसे चाहिए—कुछ ही चाहिए जो उसे सभ्यता से बाहर निकालकर ले जाये, जहाँ उसके भाई-बहिन हैं, स्त्री है, बच्चा है—और यह सभ्यता नहीं है।

वह सड़क की ओर, सभ्यता की उन सब दूकानों की ओर लौट पड़ा।

(५)

लेकिन तब शाम हो चुकि थी। दूकानें बन्द हो गई थीं।

अछूते फूल

अगस्त १९३७

मीरा वायुसेवन के लिए चली जा रही थी, लेकिन उसका सिर झुका था, आँखें अधखुली थीं, और उसका ध्यान अपने आसपास की चीजों की ओर, पथ के दोनों ओर बिखरी हुई और आत्मनिवेदन करती हुई-सी 'संस्कृत' प्रकृति की ओर बिल्कुल नहीं था।

मीरा की आयु छब्बीस वर्ष की हो गई थी। इन छब्बीस वर्षों में, वयस्क हो जाने के बाद मीरा ने अपने कालेज के चार वर्ष पूरे करके बी० ए० की डिग्री प्राप्त कर ली थी, और उसके बाद क्रमशः राजनीति में हिस्सा लिया था, जेल भी हो आई थी, 'सोसायटी' में, सभ्य समाज में भी मेल-जोल बढ़ाया था और अपना स्थान बनाया था, बीमा की एजेन्सी भी की थी। कहा जा सकता था कि उसने अपने समाज में सफलता प्राप्त की थी।

पुरुषों पर प्रभाव डालने की उसमें, कुछ विशेष शक्ति थी। उस शक्ति को प्रतिभा कहें, तो अनुचित न होगा। मीरा के हमजोली सभ्यों की भाषा में कहा करते थे—'She has way with men.' अब भी, घूमते समय अपना ध्यान आसपास के सौन्दर्य से खींचकर अपने ही भीतर समेटे, मीरा इसी बात को सोच रही थी। जहाँ तक उसकी याद जाती थी, अपने पिछले दस-एक वर्षों में, जबसे उसने होश सँभालकर आत्मनिर्णय का अधिकार पाया और विद्यार्थी-समाज के स्वच्छन्द वातावरण में पैर रखा, तबसे उसे एक भी पुरुष ऐसा नहीं मिला था जो उसके संपर्क में आया हो और अप्रभावित रहा हो। पुरुष आते थे, कोई झुककर, कोई अकड़कर, कोई लोलुप भाव से,

कोई कठोर उपेक्षा से, लेकिन फिर मानो उन पर कोई सम्मोहनी-सी छा जाती थी, मानो उनके पङ्ख भींग जाते थे और फड़फड़ाना बन्द हो जाता था।—या यों कहें कि किसी फैन्सी नस्ल के पालतू कुत्ते की तरह वे मीरा के पीछे-पीछे दुम हिलाते हुए चल पड़ते थे। मीरा उनसे खेलती थी, उन्हें नचाती थी, उनसे काम लेती थी। कुत्तेपन के कारण वे सेवा करते थे, यद्यपि फैन्सी पन के कारण वे मुँह लगे भी होते थे और मानो थोड़ी-सी दुलार-पुचकार के भूखे भी। मीरा इस बात को जानती थी और इसकी अनदेखी भी नहीं करती थी।

लेकिन इतना होने पर भी मीरा ने पुरुषों से एक विशेष दूरी कायम की थी, एक अलगाव स्थापित रखा था। इतने पुरुषों के संपर्क में आकर, उनसे मिल-जुलकर, उनसे 'मिक्स' करके भी वह अछूती रह गई थी, अछूती ही नहीं, अस्पृश्य भी। उसे इसका अभिमान भी था। स्त्री के लिए पुरुष-समाज में आकर भी उससे बचे रहना एक बड़ी बात होती है, और फिर भारत के 'नव-संस्कृत' समाज में, जिसमें आचार के पुराने शास्त्र नष्ट हो गये हैं और नये 'स्टैण्डर्ड' बन नहीं पाये, स्त्री के लिए अपने शील की रक्षा करते हुए चलना तो बहुत ही बड़ी बात है। मीरा ने यही महान् कार्य बड़ी सफलता से किया था, और उसका अभिमान अनुचित नहीं था।

इस समय टहलने के लिए घर से निकलकर पैदल घूमती हुई मीरा इसी बात पर विचार कर रही थी। मन ही मन वह एक-एक करके उन लोगों को गिन रही थी, जो उसकी अर्दली में आये थे, जो उसके जीवन की रंगशाला में अपना पार्ट अदा कर रहे थे, कोई नाचकर, कोई झल्लाकर, कोई हँसकर कोई रोनी सूरत बनाकर, और जिन्हें एक-एक करके उसने मञ्च पर से हटा दिया था। अवश्यमेव वह अपनी सफलता के लिए अपने को बधाई दे सकती थी। 'कीच में कमल' की उपमा शायद एक अनुचित डींग हो, लेकिन वह अपनी तुलना उस मधुमक्खी से अवश्य कर सकती थी, जो भाँति-भाँति के फूलों का रस लेकर मधु सञ्चय करती है, पर अपने पंख कभी उसमें नहीं लपटाने देती।

यही सब सोचती हुई मीरा टहलने चली जा रही थी। लेकिन वह प्रसन्न नहीं थी। वह अपने को बधाई देती जा रही थी, लेकिन उसका मन मुरझाया हुआ था। उसके बधाई के शब्द मानो अर्थहीन थे, वह उन्हें दुहरा-दुहराकर भी उनसे जरा-सा सन्तोष या आनन्द नहीं खींच पाती थी। उसके पैर पथ पर क्रमानुसार पड़ते जा रहे थे, यही उसका टहलना था।

(२)

मीरा का रास्ता पूर्णतया निर्विघ्न नहीं था। साँझ घिरती आ रही थी, और अधिकांश सैर करनेवाले—मुख्यतया बूढ़े, औरतें, बच्चे—अपने-अपने घर-घोसलों की ओर चल दिये थे। फिर भी जब-तब उस सँकरी सड़क पर कोई साइकल पर सवार नवयुवक सैलानी आ निकलता और मीरा के पास से सर्राता हुआ चला जाता, तब मीरा को चौंककर एक ओर हटना पड़ता। इस ढङ्ग के सैलानी प्रायः बिना रोशनी के घर से निकलते हैं, और फिर वक्त तङ्ग पाकर खूब तेजी से घर की ओर साइकल दौड़ाते हैं। घण्टी बजाना या ब्रेक लगाना उनके लिए महापाप का गौरव प्राप्त कर लेना है, और जो जरा और मनचले होते हैं, वे हैण्डल को हाथ से छूना भी अनुचित समझते हैं। तब एक अवस्था ऐसी आती है कि सतयुग से हमारा युग बढ़ जाता है। सतयुग में लोग परलोक की तलाश में फिरते थे और वह लभ्य नहीं होता था, अब परलोक ही मुँह बाये फिरता है और पैदल चलनेवाले लोगों को अपनी जान बचाकर भागना पड़ता है।

यह बात नहीं थी कि मीरा को इस ढङ्ग के लोगों पर क्रोध आता हो—साहसिक वृत्ति उसमें भी पर्याप्त मात्रा में थी और खतरे का नशा वह खूब पहचानती थी। लेकिन इस समय उसे अकारण क्रोध आया हुआ था। वह भीतर ही भीतर कुढ़ रही थी, उसके मन में बार-बार एक खुजली-सी उठती थी कि किसी से कठोर व्यवहार करे, किसी से लड़े, बुरी तरह पेश आये, किसी को चोट पहुँचाये, किसी चीज़ को बिगाड़े। क्यों, किसे, कैसे, यह सब उसके आगे स्पष्ट नहीं था, पर उसीका मन मनुष्य-मात्र के प्रति एक तीखी अप्रीति से लबालब भर रहा था और छलका पड़ता था।

सामने से जो लोग साइकिलों पर आते, मीरा घूरकर उन्हें देखती। जो कुरूप होता, वह उसके रोष से बच जाता, लेकिन औरों पर वह दृष्टि ऐसे पड़ती, मानो उन्हें भस्म कर डालेगी।...प्रत्येक ऐसे आगन्तुक के साथ उसका रोष बढ़ता ही जाता। अन्त में एक अवस्था ऐसी आई कि उसका इस सुलगते हुए अप्रीति-भाव को दबाना असंभव हो गया, और वह मानो कार्य में परिणत होकर फूट निकलना चाहने लगा।

दूर ही से साइकल की घण्टी सुनकर मीरा कुछ चौंकी, फिर उसने पथ पर से एक छोटी-सी टूटी हुई डाल उठा ली। सामने ही सड़क का मोड़ था, शायद इसी लिए आते हुए साइक्लिस्ट ने घण्टी बजाई थी। धुँधलके में मीरा उसे तब तक न देख सकी, जब तक कि वह बहुत ही पास न आ गया। तब एकदम से उसने वह छोटी-सी डाल साइकल के पहिये की ओर फेंक दी।

साइकल तिव्र गति से जा रही थी। डाल की लकड़ी पहिये की सलाइयों में अड़ गई, साइकल खड़खड़ाई और एकदम मे रुक गयी। सवार उस पर से उछलकर छः-सात फुट दूर जाकर औंधे मुँह गिरा। एक बाँह से उसने शायद अपना मुँह बचाया था, पर उसका सिर सड़क के किनारे के एक पेड़ से टकरा गया।

साइकल क्षण-भर बिना सवार के ही खड़ी रही, फिर कुछ इंच आगे सरककर एक ओर गिर गई।

(३)

विद्युत्-गति से हो जानेवाली इस घटना की पहली प्रतिक्रिया मीरा के मन में एक तीव्र आनन्द के रूप में प्रकट हुई—वह आनन्द, जो विजय के बाद होता है, जब बहुत दिनों की अनेक असफलताओं के बाद एक दिन एकाएक सफलता मिल जाती है। पर दूसरे ही क्षण उसने जाना, यह उल्लास जीत का नहीं है, कुछ काम कर लेने का नही है, उल्लास का कारण यह है कि अब सामने कुछ काम करने को है। कैदी को जब मुक्ति मिलती है, तब एक तरह का आनन्द उसे होता है, पर इस समय मीरा को जो आनन्द हो रहा था, वह वैसा था, जैसा कि बहुत दिनों से कालकोठरी में निकम्मे पड़े हुए कैदी को उस समय होता है, जब उसे मशक्कत दी जाती है—फिर वह चाहे पत्थर कूटना या 'जगाई' या कोल्हू ही क्यों न हो…

मीरा लपककर उस आदमी के पास पहुँची। वह सड़क पर फैला हुआ पड़ा था। उसके शरीर में किसी तरह की गति नहीं थी। मीरा ने कलाई पकड़कर देखा, वह नब्ज भी नहीं पा सकी। उसने युवक का सिर उठाया, वह भारी जान पड़ा और एक ओर को लुढ़क गया।

तब मीरा एकाएक घोर चिन्ता से सिहर उठी। आँखें फाड़-फाड़कर वह देखने लगी कभी युवक की ओर, कभी साइकल की ओर, कभी अपने उस हाथ की ओर जिसने वह डाल पहिये में अटकाई थी।

बहुत देर के बाद अगर एकाएक मौन हो जाय, तो हमारे भीतर से ही मानो कोई चीख उठता है और नीरवता नहीं होने पाती। मीरा के भीतर भी कोई एकाएक पुकार उठा कि सड़क पर कोई नहीं है, आसपास कहीं कोई नहीं है, सैर का समय खत्म हो गया है।

और बरसों बाद अब मीरा की नई शिक्षा उसके काम आई—उसने बिना किसी प्रकार के संकोच या झिझक के उस बिल्कुल अजनबी नवयुवक को घुमाकर सीधा किया और 'ओह, लार्ड!' कहते हुए बाहों में उठा लिया। बोझ बहुत काफी था, लेकिन परिताप में दानवी शक्ति होती है।

लगभग डेढ़ फर्लांग चलकर मीरा एक चौराहे पर पहुँची, जहाँ एक बेञ्च पड़ी हुई थी। मीरा ने 'हुफ्फ !' कहकर युवक को उस पर डाला, फिर कुछ बढ़कर एक ताँगेवाले को पुकारा और उसकी मदद से युवक को ताँगे में लाद-कर कहा—"चलो अस्पताल !"

(४)

कन्कशन आफ दि ब्रेन। कन्कशन। कन्कशन आफ दि ब्रेन। ब्रेन। कन्कशन—आफ—दि—ब्रेन।

अस्पताल के दुर्घटना-वार्ड के बाहर के बरामदे में मीरा बैठी है। उसे वैसे ही बैठे हुए लगभग पौन घण्टा हो गया है। बेंच पर बिल्कुल सीधी बैठी है, मुख पर जरा भी मलिनता नहीं है, किसी तरह की गति नहीं है, वह आँख भी नहीं झपकाती है; लेकिन इतने काल का वह निश्चल तनाव ही प्रकट करता है कि उसके भीतर कैसी अशान्ति भर रही है। मीरा मानो अपने नाड़ी-स्पन्दन के साथ ताल देती हुई गिनती जा रही है कि उस घटना को कितनी देर हो गई है, प्रति सेकण्ड कितनी और देर होती जा रही है...

आखिर डाक्टर ने आकर आश्वासन देते हुए कहा—'अब कोई चिन्ता की बात नहीं है।'

'क्या—'

डाक्टर ने अपने स्वर में कुछ घनिष्ठता, कुछ वात्सल्य लाकर पूछा—'आपके कोई संबन्धी हैं क्या ?'

मीरा ने जल्दी से कहा—'नहीं, सड़क पर एक दुर्घटना हो गई, वहीं—'

डाक्टर ने कुछ बदले हुए दैनिक व्यवहार के, यद्यपि अब भी दया-भरे स्वर में कहा—'कोई फिक्र नहीं। बच जायगा।'

मीरा बेंच पर से उठकर एकदम चल दी। डाक्टर की विनयपूर्ण प्रशंसा को स्वीकार करने या सुनने के लिए भी वह नहीं रुकी—'आपकी सहृदयता—'

(५)

घर।

मीरा सैर से लौटकर सीधी ऊपर अपने कमरे में चली गई और धड़ाके से द्वार बन्द करके खिड़की के पास बैठी गई। खिड़की खुली थी, आधी दूर तक लगा हुआ रेशमी छींट का परदा हल्की हवा के झोंके से मदमाता-सा झूम रहा था, कभी भीतर की ओर, कभी बाहर की ओर। दूर घने नीले स्वच्छ आकाश में तारे टिमटिमा रहे थे। मीरा को याद आया, जब उसने घोर आकांक्षा से भरकर उस बेहोश युवक की बन्द पलकों को खोलकर भीतर झाँका था, तब उनमें का स्वाभाविक आलोक बुझा हुआ-सा था।

आत्मा के वे द्वार बन्द नहीं हुए थे, पर उनके आगे एक झीना परदा-सा छाया हुआ था। उस फीके पड़े हुए चेहरे में वे जबर्दस्ती खोली हुई आँखें ऐसी लगती थीं, मानो—

लेकिन वह नहीं चाहती उस युवक की बात सोचना। उसे क्या अब उस युवक से? वह उसे अस्पताल पहुँचा आई है, वह ठीक है अब। मर नहीं जायगा।

लेकिन उसका चेहरा मीरा की आँखों के आगे फिरने लगा।

नहीं। मीरा ने अपने ओठ ज़ोर से काट लिये। वह नहीं देखेगी वह चेहरा, वह पीड़ा से सिकुड़ा हुआ शरीर। वह नहीं देखेगी—

लेकिन क्या नहीं देखेगी, यह दुहराते हुए तो वह बार-बार उसे देखती ही जा रही है। उसने फिर ओठ काट लिया, मुट्ठियाँ घोंट लीं—

एक मुट्ठी में अभी तक वह फूल दबा हुआ था, जो उसने टहलते समय राह के किनारे लगी क्यारी में से तोड़ लिया था। वह अब तब उसे मुट्ठी में ही लिये हुए थी!

मीरा का शरीर ढीला पड़ गया, उसका देर का संचित तनाव मिटने लगा। वह स्थिर अनदेखती दृष्टि से उस फूल की ओर देखने लगी।

मुरझाया हुआ, कुचला हुआ, गर्मी और पसीने और दबाव से अपनी सफेदी खोकर काला पड़ा हुआ फूल।

उसे अपनी डींग याद आई। 'पङ्क में पङ्कज तो नहीं, पर हाँ, वह मधु-मक्खी अवश्य, जो अपने संचित किये हुए मधु में अपने पङ्ख नहीं लपटाती, फँसती नहीं, मुक्त ही रहती है...अछूती। अस्पृश्य...'

अब उसने फिर अपने ओठ काट लिये—अबकी बार कुछ भुलाने के लिए नहीं। इस बार केवल उस एक शब्द के उच्चारण को रोक देने के लिए, जो उसकी सारी विदेशी शिक्षा और सभ्यता और संस्कृति का निचोड़ बनकर उसके ओठों तक आया था—'Damn!'

तब एकाएक उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे। शब्दहीन, लेकिन बड़े-बड़े गोल-गोल आँसू।

सिगनेलर

सितम्बर १९३७

भाई विमल,

आखिर मैं यहाँ पहुँच ही गया। और पहुँचकर सोचता हूँ, अच्छा ही हुआ क्योंकि फिर क्या जाने ऐसी सुन्दर जगह देखने को मिलती या न मिलती? जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है—अच्छे भले तन्दुरुस्त लोग देखते-देखते लुढ़क जाते हैं, मैं तो बीमार हूँ। देखने को अच्छा दीखता हूँ, और आमतौर पर होता भी हूँ अच्छा ही; पर जब धड़कन का दौरा होता है, तब···तभी मैं कहता हूँ, रोमांस अच्छी चीज़ है। जीवन में जब इतना अनिश्चय है, तब रोमांस के बिना उसे कैसे सहा जाय, यह मुझे तो समझ ही नहीं आता। निश्चय कहाँ है? विश्वास कहाँ है? तुम्हारे विज्ञान में? विज्ञान जब अपनी इति पर पहुँचता है, तब एक प्रश्न विराम का रूप ले लेता है। और जहाँ वैसा नहीं करता, जहाँ वह निश्चय का आत्यन्तिक, अकाट्य सत्य का रूप लेता है, वहाँ वह झूठ बोलता है। क्या इसी को निश्चय certainty कहते हैं! लेकिन तुम कहोगे पत्र में भी कहाँ की बात ले बैठा, इसलिए जहाँ हूँ, वहाँ की बात कहूँ।

यह तो तुम जानते हो कि मैं यहाँ आया कैसे। मेरे मामा बहुत वर्षों से यहाँ रहते हैं। अपने माता-पिता से वसीयत में उन्होंने एक विचित्र तबीयत पाई थी (अपनी मा से शायद मैंने भी उसका कुछ अंश पाया है!) जिसके कारण उनका मन साधारण लोगों में, साधारण कामों में, साधारण स्थान पर लगता ही नहीं था। जबर्दस्ती शादी कर दी जाने के बाद वे यहाँ भाग आये और जंगल में ही छोटा-सा घर बनाकर रहने लगे। वह उस समय का

घर अब एक शानदार बँगला है, जिसके चारों ओर सेब, नाशपाती, खुमानी, आडू, अलूचे इत्यादि के सैकड़ों वृक्ष हैं। आज की इस हालत को देखकर कोई सोच भी नहीं सकता कि पन्द्रह-बीस साल पहले--बल्कि अभी पाँच-छः साल पहले तक--यहाँ इनके सिवाय कोई नहीं रहता था—नजदीक कोई मकान था तो तराई के पार सामने की पहाड़ी पर, जो कौए की उड़ान से तो दो मील से अधिक नहीं होगा; लेकिन वैसे दस मील से कम नहीं! मामा ने अकेले आकर इस चीड़ की झड़ी हुई सुइयों और कुकुरमुत्तों से भरी हुई ज़मीन को फलदायिनी बनाया, बाग खड़ा किया, और तब (अभी कोई पाँच-एक वर्ष हुए हैं इस बात को) दो-चार और परिवार यहाँ आसपास आ बसे। अत्यन्त सुन्दर जगह है, एकान्त, शान्त और शीतल। काई की हरियावल यहाँ का मखमली बिछौना है, मुनाल के रंगीन पंखों की फड़-फड़ाहट ही यहाँ के चामर हैं, पंडुकियों का कूजन ही यहाँ का संगीत है। रोमांस के राजा का यह दरबार है।

तुम पूछोगे, लेकिन रोमांस वहाँ है भी? मैं स्वयं जब संध्या (मेरी ममेरी बहन का नाम छायावादी मामा ने संध्या रखा था, यह तुम्हें बता चुका हूँ कि नहीं?) की आँखों की ओर देखता हूँ, तब मेरे स्वर में यह प्रश्न उठता है। उन आँखों ने उन्नीस बसन्त देखे हैं, उन्नीस बार बसन्त के सुन्दर स्वप्न को पावस के जल से सींचा जाता और शरद की परिपकता में फलित होकर भी शिशिर की तुषार-धवल कठोरता में लुट जाता देखा है; फिर भी उनमें उस रहस्य की पहचान नही है, स्वप्न नहीं है, स्वप्न की माँग भी नहीं है। ऐसी स्वच्छ—ऐसी तरल और हाँ, ऐसी भावहीन आँखें मैंने आज तक नहीं देखीं। भावहीन इसलिए कहता हूँ कि उनमें अपना कुछ नहीं दीखता—जान पड़ता है, सन्ध्या के पास अपना कुछ है ही नहीं जो आँखों में आये—चाहे व्यक्त होने के लिए, चाहे छिपा रहने के लिए। वायु चलती है, चीड़ के वृक्षों में सरसर ध्वनि उठती है, तो मैं देखता हूँ कि सन्ध्या की आँखों में भी उस ध्वनि का कम्पन है; आडू के वृक्ष से कोई बची-खुची फूल की पँखुड़ी गिरती है, तो मुझे जान पड़ता है कि उन आँखों में भी अवसान की एक रेखा खिंच गई है; सूर्य अस्त होता है, तो मैं पाता हूँ कि रंगों की बिछलन पर टिकी हुई उन आँखो में भी अनुराग की झलक है। लेकिन जब मैं उन्हें पकड़ने के लिए बात करता हूँ, तब पाता हूँ कि वहाँ कुछ नहीं है—संध्या शून्य है। उसकी आँखों में प्रकृति-ही-प्रकृति है! तभी मैं कहता हूँ, वे आँखें बहुत ही सुन्दर हैं, लेकिन बहुत ही भावहीन।

तुम मन में हँसोगे कि रोमांस के उपयुक्त वातावरण नहीं मिला; लेकिन

मुझे ऐसा तो नहीं लगता। तुम्हें मैं कोई प्रमाण तो नहीं दे सकता, फिर भी मैं सिद्धान्ततः यह मानता हूँ कि प्रत्येक व्यक्ति में रोमांस की क्षमता है, और वह कभी-न-कभी प्रकट भी होती ही है—दूसरों के आगे नहीं, तो उस व्यक्ति के आगे अवश्य, जिसमें वह हो। संध्या में रोमांस है या नहीं, मैं चाहे न जानूँ, वह स्वयं एक दिन अवश्य जानेगी। और मैं भी क्यों नहीं जानूँगा ?. जैसी उसकी आँखें हैं, उनमें भला कुछ छिप सकता है ? पहाड़ी झील का अन्तर इतना स्वच्छ होता है, तभी तो उसमें छोटे-से-छोटा मेघ-पुंज भी, एक उड़ता हुआ पक्षी तक साफ़ झलक जाता है, नहीं तो क्या तालाब के गँदले पानी में कुछ दीखता है ?

तुम ऊब उठे होगे। थोड़ा-सा विस्मय मुझे भी होता है कि आने के पहले ही दिन तुम्हें इतना लम्बा पत्र कैसे लिख गया ! रात यहाँ पहुँचा था, रात बारह बजे तक हम लोग बातें करते रहे। सबेरे उठकर दिन-भर संध्या के साथ घूमा किया—बाग़ देखा, घर देखा, खेती की क्यारियाँ और उनसे परे एक रहस्य भरे परदे की तरह दृष्टि को रोकनेवाला चीड़ का जंगल भी देखा। नीचे घाटी में फैली हुई और भागती हुई धूप देखी, टूटते तारों की तरह गिरकर सर्राता हुआ निकल जानेवाला कुररी का जोड़ा देखा। पड़ोसियों से परिचय प्राप्त किया; फिर सन्ध्या के पाले हुए पक्षियों, मुर्गे-मुर्गियों, हंसों की जोड़ी और जंगली बिलार के बच्चे से पहचान की। और अब रात को तुम्हें पत्र लिखने बैठा हूँ, तब भी थकान नहीं है, परिश्रम एक विचित्र अत्यन्त मधुर नशे की तरह शरीर में छाया हुआ है ! इस सबसे तुम अनुमान लगा सकते हो कि यह स्थान कैसा होगा।

लेकिन तुम्हें क्या ? तुम्हें अच्छी तुम्हारी बीमे की एजण्टी और नगर कांग्रेस कमेटी की रीं-रीं-चीं चीं ! इस आख़िरी 'इन्सल्ट' के साथ

—तुम्हारा स्नेही

(२)

२७ जून

प्रिय विमल,—

मैं कहता था, मैं जीतूँगा ! रोमांस—रोमांस—रोमांस—कितनी चाहते हो तुम रोमांस ? मैंने उस दिन देखी नहीं थी ; लेकिन क्या वह थी नहीं ? वह तो बरसों से यहाँ चक्कर काट रही है—माई डीयर मैन, बरसों से ! पर गर्व पीछे करूँगा, बात तो कह लूँ। तो सुनो।

पिछला पत्र लिखने के बाद फिर तबीयत ख़राब हो गई, और तीन दिन बाहर निकलना नहीं हुआ। इस बीच मैंने संध्या को कुछ और पहचाना।

मामी तो हैं नहीं, और मामा काफ़ी बुजुर्ग भी हैं और अब बोलते-चालते भी कम हैं, अक्सर अपनी लाइब्रेरी में रहते हैं, इसलिए घर की देख-रेख और सेवा-शुश्रूषा का सब भार संध्या पर ही रहता है। और वह उसे ऐसे निभाती है, जैसे जानती ही न हो कि वह बोझ है। मैंने अपने को बिल्कुल आराम में पाया, और इतना ही नहीं, मैंने यह भी पाया कि संध्या साधारण घरू चिकित्सा के अलावा और भी बहुत कुछ जानती है। 'मेघदूत' उसे जबानी याद है, 'कुमारसंभव' उसने कई बार पढ़ रखा है, भारवि और श्रीहर्ष की वह तुलना कर सकती है! ख़ैर। तीन दिन बाद मैं उठने-फिरने लायक हुआ तो यह तय हुआ कि बाहर खुले में बैठा जाय। बँगले के सामने घास पर मेरे लिए एक आरामकुरसी डाल दी गई, अपने लिए संध्या ने एक स्टुल रख लिया। मैं लेट गया, टाँगों पर कम्बल डालकर रंग-बिरंगे बादलों की ओर देखकर क्या कुछ सोचने लगा। संध्या भी चुपचाप बैठी कभी मेरी ओर, कभी बादलों की ओर, कभी सामने की पहाड़ी की ओर देखने लगी।

बहुत समय ऐसे बीत गया। अँधेरा होने लगा। मैं इतनी देर तक संध्या से कुछ भी नहीं बोला था; लेकिन सोच रहा था, संध्या के बारे में ही। अब जब मुझे ध्यान हुआ कि मैं बहुत देर से चुप हूँ, तब मैंने उसकी ओर देखा। वह अब स्थिर दृष्टि से सामने की पहाड़ी की ओर देख रही थी। मैंने भी उधर ही देखते हुए पूछा—'उस पहाड़ी पर क्या कोई नहीं रहता? कहीं प्रकाश नहीं है।'

वह उत्तर देने को हुई ही थी कि सामने पहाड़ पर कहीं एक बत्ती जल उठी। प्रकाश दूर था, छोटा-सा दीखता था; लेकिन वह तेल के दीए-सा लाल नहीं था, पीला भी नहीं था; काफ़ी सफेद दीखता था, मानो बिजली का हो। और वह लैम्प की तरह स्थिर नहीं था, कभी जलता था, कभी मिट जाता था, कभी थोड़े काल के लिए, कभी अधिक।

पहले मैंने समझा कि वह पेड़ों में से छनकर आता होगा, और हवा से पेड़ों के हिलने के कारण झिपता-बलता होगा। लेकिन हवा बिल्कुल शान्त थी, यहाँ तक कि पहाड़ों में हमेशा होती रहनेवाली चीड़ों की साँय-साँय भी बन्द थी। अत्यन्त स्तब्धता छाई हुई थी। फिर मुझे ऐसा भी लगा कि वह झिपना-बलना आकस्मिक नहीं है, मानो किसी विशेष प्रणाली पर चल रहा है, जैसे उनमें चिंतना है, कुछ अभिप्राय है। मेरी रोमांटिक वृत्ति जागी—क्या यह सिगनल है? मैं ध्यान से देखने लगा, और मैंने पाया कि मैं उस प्रकाश के सन्देश को साफ़-साफ पढ़ सकता हूँ—मोर्स प्रणाली पर सन्देश भेजा जा रहा था—I love you—I love you—I love you···

मैं भौंचक रह गया। इस जंगल में मोर्स कोड और प्रेमालाप का यह आधुनिक तरीका ! मुझे इतना आश्चर्य हुआ कि मैं बोल नहीं सका, दस मिनट तक चुपचाप वह सिगनल ही देखता रहा। जब वह बन्द हो गया, और थोड़ी देर बाद पहाड़ के एकरूप अन्धकार को चीरकर मामूली तेल के दीए का लाल और फैला हुआ-सा प्रकाश जगने लगा, तब मैंने किसी तरह संध्या से कहा—'वह जानती हो क्या था ? कोई सिगनल कर रहा था—मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ।'

संध्या ने अचंभे में आकर कहा—'सच ? लेकिन मैं तो इसे आठ वर्षों से नित्य देख रही हूँ !'

मेरा विस्मय और बढ़ गया। 'आठ वर्षों से ? नित्य ? कौन रहता है वहाँ ? किसे सन्देश भेजता है ?'

संध्या ने मेरे प्रश्न की उपेक्षा करते हुए कहा—'अजब बात है। आठ वर्ष पहले तो इधर हमारे सिवाय कोई था ही नहीं।'

थोड़ी देर बाद उसने फिर धीरे से कहा—'अजब बात है।'

थोड़ी और देर बाद उसने और भी धीरे से कहा—'बड़ी अजब बात है। आठ वर्षों से—'

फिर वह एकाएक उठकर भीतर भाग गई।

और सबेरे मैं देखता हूँ, झील पर बादल घिर आये हैं, सारा आकाश छा गया है। अब संध्या की आँखों के और संसार के बीच में सदा के लिए एक परदा छा गया है, जिस पर संध्या का सच्चा रूप दीखता है—और वह रूप है सारे विश्व का रहस्य—रोमांस, रोमांस, रोमांस···

× × ×

२९ जून

परसों मैं पत्र अधूरा ही छोड़कर उठ गया था। वैसे वह अधूरा था भी नहीं, क्योंकि जो असल बात मुझे लिखनी थी, वह तो लिख ही चुका था। फिर भी उतनी बात से ही मन नहीं भरता। अगर रोमांस के आ जाने से ही उसकी हौंस मिट जाती, तो बात ही क्या बनती ? आकर तो वह निरन्तर माँगती है कि उसका रहस्य खोला जाय, इस माँग में ही तो उसकी शक्ति है। मैं समझता हूँ, पिछली सदी में यूरोप में जो रोमांटिक गाथाओं की लहर आई थी, उसमें संकेत रूप से यही बात कही गई थी। रोमांस की इसी रहस्यमयी शक्ति को शाप का रूप दिया गया था। टेनीसन की 'लेडी आफ शैलाट' का शाप भी यही था—शीशे में 'बाहर' का दृश्य देखना रोमांस की पुकार थी, जिसके वश होकर वह बन्दी रमणी नाव में बैठकर बह चली,

जाने किस रहस्य का उद्घाटन करने के लिए! कीट्सकी 'ला बेल डाम सान्स मर्सी' की हृदयहीन नायिका भी तो वही रहस्यमयी शक्ति है, जिसके एक चुम्बन से अभिभूत होकर पुरुष सदा उसकी तलाश में मारा-मारा फिरता है…

लेकिन साहित्य-मीमांसा भी क्या बीमे के आँकड़े हैं जो तुम्हे रुचेंगे! लौटूँ कहानी की ओर ही!

रोमांस तो संध्या की है, लेकिन रहस्य तो मेरे लिए भी है न! मैंने खोज-खाजकर बहुत-सी बातें पता लगाई हैं। और जो पता लगीं, उनके आधार पर बहुत-कुछ सोचा भी है, जिसके कुछ परिणाम भी निकले हैं। वे सब अब लिखता हूँ कि आयु की लम्बाई से ही जीवन की कीमत लगानेवाले तुम उसकी गहराई भी कुछ समझ पाओ।

वह जो परली पहाड़ी पर आदमी रहता है, उसका नाम है बलराज। उसने कहीं शिक्षा नहीं पाई है; लेकिन सुनने में आता है कि वह केवल पढ़ा-लिखा ही नहीं, बहुत-सी विद्याओं में पारंगत भी है। यह सब कुछ उसने स्वयं अपनी हिम्मत से सीखा है, क्योंकि उसका बाप देवराज यहाँ के हिसाब से काफ़ी सम्पन्न होते हुए भी पढ़ाई के विरुद्ध था और वैसे भी अक्खड़ था। बेटा ऐसा तीक्ष्ण-बुद्धि कैसे निकला, इसका कारण कई प्रकार से बताते हैं; लेकिन इन सब बातों में इतना साम्य अवश्य है कि उसकी मा का ठीक-ठीक पता नहीं है और जिस स्त्री ने उसे पाला-पोसा, वह देवराज की दूसरी पत्नी थी। सौतेली मा का जैसा चित्र खींचा जाता है, इस स्त्री ने अपने को उसके योग्य साबित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। देवराज न केवल बुढ़ापे की स्त्री का ग़ुलाम था, बल्कि वैसे भी अत्यन्त कठोर और नीरस तबीयत का आदमी था। लोग बताते हैं कि वह कई बार बलराज को इतना पीटा करता था कि वह बेहोश हो जाता था, और तब उसे घर से कुछ दूर राह के किनारे डाल जाता था। कई बार आते-जाते लोग उसकी पट्टी कर जाते थे, और कभी कुछ फल भी खाने को दे जाते थे।

जब बलराज कुछ बड़ा हुआ, तब उसे घर से बिल्कुल बहिष्कृत कर दिया गया—एक अलग झोंपड़ा उसके लिए डाल दिया गया, जिसमें वह उसी कड़वी आज़ादी में पलने लगा, जो बन्दी को उस समय मिल जाती है, जब वह कालकोठरी के एकान्त में पाता है कि वह सारे संसार से अलग है। यहीं उसने तरह-तरह की किताबें पढ़ीं, थोड़ी बहुत हिकमत, कुछ संगीत, कुछ बढ़ईगिरी और न-जाने क्या-क्या…

मैं कुछ-कुछ उसकी हालत अनुमान कर सकता हूँ। दुबला लम्बा शरीर,

बड़ी-बड़ी आँखें, लम्बे किन्तु सिर से सटकर रुखाई से लटकते हुए बाल, एकदम मनोविज्ञान-ग्रन्थों के 'प्राब्लेम चाइल्ड' की-सी सूरत। उस जंगल में अकेले रहते, यह देखते हुए कि उसके संसार में जो दो व्यक्ति हैं, जिनसे वह कुछ स्नेह की आशा कर सकता है, उनमें से एक तो उसे नित्य पीटता है, उसे कुचलकरके मिट्टी कर ही अपनाना चाहता है, और दूसरा व्यक्ति, जिससे मृदुता और सहानुभुति की उम्मीद प्रकृति ने न-जाने कैसे पुरुष की नस-नस में तढ़पा दी है, उसकी विमाता है जो दूर ही धकेलती है और कभी पास खींचती है, तो एक विष में लपटाये हुए सूत्र से। बलराज किधर गया होगा, यह समझना कठिन नहीं है। बच्चा जब मा को माँगता है, और पाता है केवल एक स्त्री, जो किसी दूसरे की पत्नी है, तब उसकी आत्मा दूसरे रास्ते में पड़कर वह कमी पूरी करना या छिपाना चाहती है—संगीत द्वारा, शारीरिक परिश्रम द्वारा, आत्मपीड़न द्वारा और सबसे बढ़कर दिवास्वप्नों के द्वारा—उस अमोघ-अस्त्र रोमांस के द्वारा।

देवराज मर गया, और बलराज की विमाता कहीं चली गई। बलराज अपने पिता के विस्तृत खेतों का स्वामी होकर रहने लगा।

संध्या को याद है कि दस-एक वर्ष पहले वह एक बार इस तरफ़ आया था और एक दिन यहाँ रह गया था। संध्या उस समय केवल नौ वर्ष की थी; लेकिन उस एक दिन में बलराज से उसकी जो कुछ बातचीत हुई, वह उसे बख़ूबी याद है, और याद होने का कारण भी है। संध्या ने अपना समवयस्क लड़का तब तक देखा नहीं था, लेकिन वह स्वच्छन्द वातावरण में पली होने के कारण प्रगल्भ और बेधड़क थी; बलराज ने भी अपनी समवयस्का लड़की नहीं देखी थी, पर वह अपने आहत और पीड़ित आत्मा के कारण अत्यन्त संकोची और एकान्तप्रिय था। सवेरे वह आया था, और संध्या कहती है कि दुपहर तक उसके मुख से एक शब्द नहीं निकला! चुपचाप एक फीकी-सी, दीख जाने पर फ़ौरन छिप जानेवाली दृष्टि से संध्या की ओर देखते हुए ही उसने खाना खाया, वैसे ही लाइब्रेरी में बैठा रहा। पहली बात उसने यही की कि घूमने जाऊँगा, और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये चीड़ के जंगल की ओर चल दिया।

और वहाँ जंगल में और भी मज़े की बात हुई। संध्या उसके बर्ताव से हैरान तो हुई; लेकिन कुण्ठित होना उसने सीखा नहीं था, और न जाने क्यों उसे इस बारह बरस के लड़के की बीमार आँखों पर करुणा-सी भी आई थी। वह भी पीछे-पीछे वन की ओर चल दी। वहाँ वह बलराज की तलाश में घूमती हुई जंगली स्ट्राबेरियाँ भी बीनती रही, और जब आखिर बलराज

मिला, तब उसे स्ट्राबेरियाँ देती हुई बोली—'लो, तुम्हारे लिए बीनी हैं।' बलराज विस्मय में वह ले भी नहीं सका, बोला—'किसी के लिए नहीं बीनी जातीं!' कल्पना करो इस उत्तर की, और सोचो उस बच्चे की हालत, जो यह कहता है! समझो उसकी प्रवासी आत्मा का अकेलापन, जिसमें उसकी सारी मिठास, सारा रस, अन्तर्मुख होकर भीतर-ही-भीतर घुमड़ रहा है, विकृत हो रहा है—ठीक वैसे ही, जैसे अंगूर का रस निचोड़कर दाब दिया जाने के बाद सड़ता है और शराब में परिणत हो जाता है...

संध्या उसे साथ लेकर ही लौटी। रास्ते में उसने न-जाने कितने और कैसे-कैसे प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर में बलराज धीरे-धीरे अपना तो नहीं, अपने ज्ञान का परिचय देने लगा। जंगल की अनेक तरह की जड़ी-बूटियों के नाम उसने बताये, सुगन्धित जड़ों की खूबियाँ गिनाईं, और यहाँ तक खुल सका कि जेब में से एक जड़ निकालकर संध्या की ओर बढ़ाते हुए बोला—'लो' सूँघो!' जब संध्या ने सूँघकर प्रशंसा की और लौटाने लगी, तब बोला—'तुम रखो।' संध्या ने पूछा—'मेरे लिए लाये थे?' तब कहा—'नहीं, पर तुम रखो।' संध्या ने कहा—'मेरे लिए नहीं लाये थे, तब मैं नहीं लूँगी।' और उसने देखा कि 'रखो' कहता हुआ भी बलराज जैसे लेने के लिए हाथ बढ़ाने की चेष्टा कर रहा हो, मानो उसमें इतना भी साहस नहीं है कि आग्रह कर सके! संध्या ने वह जड़ रख ली, और वे लौट आये। उसी शाम बलराज चला भी गया।

बस, इतनी-सी बात तब हुई थी—दस साल पहले। और आज यही व्यक्ति सिगनल करके कहता है, 'मैं प्रेम करता हूँ,' और आठ वर्षों से कह रहा है! कितना कच्चा सूत्र है, जो मृत्यु और जीवन का संबन्ध जोड़ता है; कितना कमज़ोर तन्तु है, जिस पर प्रेम अपनी पीड़ाओं का गुरुभार लिये नाचता हुआ बढ़ता है!

तुम कहोगे, क्या बेहूदगी है, पागलपन है। तुम्हारी समझ में प्रेम का यह रूप आ ही नहीं सकता। मिलने के दो वर्ष बाद किसी के भीतर phantasy का कल्पवृक्ष फूल उठे, वह संभावनाओं के आसरे ही कल्पित प्रेम का उद्यान खड़ा कर ले और उसी में इतना तन्मय हो जाय कि बाहर न निकले, यथार्थता न देखे, यह तुम्हारी दृष्टि में बेहूदगी ही हो सकती है। तुम प्रेम को आत्मदान के, उपासना के रूप में—बल्कि अछूत की उपासना के रूप में—कब देख सके! तुम्हें तो यह जँचता कि यहीं जंगल में उसका और संध्या का चोरी से मिलन हुआ करता, या वह कभी संध्या के घर में घुस आता और फिल्म के बनमानुस के ढंग पर उसे उठा ले जाता! तब तुम

कहते——'यही तो यथार्थता है साहब !' या 'मर्द का प्यार ऐसा ही होता है !' लेकिन तुम जानते हो, यथार्थता का यह रूप भी रोमांस का उबाल होता ? तुम्हारे सड़े मस्तिष्क की रोमांस भी सड़ी हुई होगी—और अन्ततः यह तुम्हारी 'यथार्थता' क्या एक मोहावरण नहीं होती उस यथार्थता को छिपाने के लिए, जिसमें तुम, स्वयं तुम हो ? लेकिन जाने दो, मैं बहस नहीं करना चाहता; मैं इस अभागे बलराज के स्वप्न में रहना चाहता हूँ, उसके सिगनल के स्पन्दन में जीना चाहता हूँ।

स्नेही—

(३)

१२ जुलाई

भाई,

यह उम्मीद नहीं थी कि यहाँ का मौसम ऐसी दगा देगा। आज आठ दिन से बारिश बन्द नहीं हुई है। सुबह से तीसरे पहर तक हल्की बारिश और घोर गड़गड़ाहट, उसके बाद रात-भर मूसलधार वर्षा। मैं तंग आ गया हूँ। संध्या के मामा तो अब लाइब्रेरी से निकलते ही नहीं, वहीं खिड़की-दरवाज़े बन्द करके आग जलाकर बैठे रहते हैं, क्योंकि नमी से उनके जोड़ों में दर्द होने लगता है; और संध्या बारिश में भी जहाँ-तहाँ घूमती-फिरती है और अजब तर्ज़ के पहाड़ी गीत गाती है। मैं बहुत अकेला हूँ। जब कभी इस अकेलेपन का ध्यान आ जाता है, तब आत्मा अपने सारे दुखों को याद करके बेकल हो उठती है, और वह सनातन प्रश्न पूछने लगती है, जो मानवता का वरदान भी है और शाप भी—मैं क्या हूँ, क्यों हूँ और कबतक हूँ ? वैसे तो इन प्रश्नों के आगे कौन अकेला नहीं है ? सुख में, संग में, रसप्लावन में, जब यह प्रश्न उठा है तो तभी उठा है जब कि व्यक्ति एक प्रकार से इन सबसे दूर हट गया है, या हटे बिना भी अलग हो गया है—यानी अकेला हो गया है। ऐसा अकेलापन क्यों आता है ? मुझे लगता है कि भीतर-ही-भीतर एक आग पैदा होती है, जिससे सुख-ऐश्वर्य में भी एक दर्द-सा छा जाता है और उसे खोखला बना देता है...भाप अन्ततः है तो पानी ही, लेकिन आन्तरिक ताप के कारण उसका आकार बदल जाता है, वह पानी होकर भी तृप्तिदायिनी नहीं रहती, और इसी लिए भाप में रखी जाने पर 'पानी में मीन प्यासी' ही हो सकेगी।

मैं अकेला हूँ। भीतर के किस दाह के कारण अकेला ? सुनो। मैं रोगी हूँ, इस समय लगभग अपाहिज हूँ, क्योंकि दूसरे के आसरे रहता हूँ। मेरे जीवन में क्या अपूर्तियाँ नहीं हैं ? मैं रोमांस का जाल बुनता हूँ। पर

क्या उसके तन्तु नहीं टूट जाते ? फिर मैं दूसरों के लिए महल बनाता हूँ; लेकिन क्या वे दूसरों के होने के कारण अधिक मजबूत होते हैं ?

मैं संध्या को देखा किया हूँ। ऐसे कई दिन आये हैं, जब मैं घण्टों मुग्ध निष्काम विस्मय में उसे देखा किया हूँ, किसी तरह का कोई भाव मुझमें नहीं जागा है—देखते रहने का भी नहीं,—बच्चा तितली को देखते हुए जिस तरह उसमें उसके उड़ने में नहीं उसकी रंगीनी में, सुकुमारता में नहीं—उसकी संपूर्णता में, तितलीपन में तन्मय हो जाता है, उसी तरह मुग्ध हो सकने का अवसर मुझे मिला है। फिर मैंने उसकी आँखों में बड़ी हल्की-सी बदली छाई देखी है, और उसे ही देखा किया हूँ, और नित्यप्रति आते रहनेवाले उन सिगनल-सन्देशों से मुझे उस देखने में सहारा मिलता रहता है। मैंने देखा है, शाम को चाहे बारिश हो, चाहे पत्थर पड़ें, जब साँझ घिर आती है और दीए बालने का समय होता है, तब संध्या एक अजब विनय का भाव लिये बाहर जाकर खड़ी हो जाती है और सिगनल की प्रतीक्षा करती है। सिगनल के बाद जब सामने की पहाड़ी पर वह मैला-सा स्थिर प्रकाश जाग जाता है, तब वह लौट आती है और बरामदे में आकर कुछ देर चुप खड़ी रहती है, फिर भीतर आकर अपने काम में लग जाती है। पर अब तीन दिन से सिगनल बन्द है। संध्या के मन की बात मैं नहीं जानता; लेकिन मेरे लिए कुछ टूट-सा गया है। आठ साल बाद एक दिन वह सिगनल बन्द हो जाय, जब कि आठ साल बाद ही वह मेरे द्वारा पढ़ा गया था, इसमें मुझे लगता है कि विधि ख़ास तौर से मेरा अपमान करना चाहता है।

उस दिन हमेशा की भाँति संध्या बाहर खड़ी थी। सिगनल होकर देखा जाना ऐसी अभ्यस्त दैनिक क्रिया थी कि शायद उधर ध्यान भी नहीं जाता था। मामा ने पुकारा—'संध्या ?' तब मुझे एकाएक ख़याल आया कि तारे निकल आये हैं, रात घनी हो गई है और सर्दी ख़ूब हो रही है। मामा की आवाज़ सुनकर संध्या चुपचाप सिर झुकाये चली गई। उसके बाद नौकर मुझे खाना दे गया—संध्या नहीं आई।

और अब तीन दिन हो गये हैं, वह सिगनल बन्द है। जब बन्द होने के कारण सोचता हूँ तब आशंका से हृदय भर जाता है। मुझे एक लेखक की कहानी याद आती है, जो नित्य नियम से प्रातःकाल घूमने जाता था और ठीक आठ बजे लौट आता था। एक दिन वह आठ बज के कुछ मिनट तक नहीं लौटा, तब उसकी स्त्री रोने लगी—उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि वह मर गया है। और उसका विश्वास ठीक निकला! क्या बलराज को कुछ हो गया है ? यह सोचकर मैं सहम जाता हूँ। उस अज्ञात दूरस्थ आदमी को मैं

भाई-सा मानने लग गया हूँ। और संध्या के लिए भी मुझे चिन्ता हो रही है। उसकी आँखों में जो बादल छाने लगे हैं, वे कुछ महत्त्व रखते हैं। संध्या मौन है, मैं नहीं जानता कि उसके भीतर कुछ जागा है या नहीं; लेकिन इतना जानता हूँ कि वह वैसी नहीं बनी है कि दो बार प्यार कर सके। और अगर बलराज···

मेरा मन बहुत उदास हो गया है। लिखने की इच्छा नहीं होती। क्षमा करना। मन आता है कि अभी उठकर चल दूँ और बलराज का पता लगाकर लाऊँ। लेकिन वह बारिश का जलप्लावन, और यह स्वास्थ्य की टूटी हुई नाव···और वह रोमांस का आलोक। कितनी दूर—कितनी दूर।

तुम्हारा—

(४)

प्रिय विमल,

लिखना चाहता हूँ, पर लिख नहीं सकूँगा! अपनी डायरी के कुछ पन्ने फाड़कर भेज रहा हूँ, पढ़ लो।

× × × ×

१८ जुलाई। क्या इस साहस को बुद्धिमत्ता कहा जा सकता है? कीच और पानी और सील, छाये हुए बादल, पहाड़ों का उतार-चढ़ाव—इस हालत में क्या मुझ रोगी को यह काम लेना चाहिए था? लेकिन और चारा कहाँ है? जिसे जीना है, उसका मार्ग यही है कि क्षण-क्षण पर जीवन को लापरवाही से परे फेंक देने को तैयार रहे। जीवन का मोह लेकर भी कोई जिया है! दिन भर में रुक-रुककर मैं छः मील आ सका हूँ, और फिर भी लगता है, टूट गया हूँ!' पता नहीं, कल चार मील भी जा पाऊँगा या नहीं। लेकिन जाना तो होगा। मुझे लगता है कि बलराज मेरा भाई है—भाई से बढ़कर कुछ है, क्योंकि, मैं उसे देखे बिना भी अपना सका हूँ।

मैंने संध्या से कहा था—'कल प्रातःकाल मैं उधर जाना चाहता हूँ मामा से कह देना।' उसने कहा, 'अच्छा।' सबेरे मैंने देखा, वह तैयार खड़ी है, और घोड़े पर आवश्यक सामान भी लदा हुआ है! मैंने पूछा—'तुम भी जाओगी?' लेकिन पूछते ही मुझे लगा कि मैंने बिल्कुल व्यर्थ यह प्रश्न पूछा है। उसने उत्तर में कुछ कहा नहीं, केवल इतना ही—'तुम अकेले जाने लायक नहीं हो।'

और दिन-भर चलकर हमने यहाँ पड़ाव भी कर लिया है। मैं यहाँ बैठा बलराज की बात सोच रहा हूँ, शायद संध्या भी सोच रही होगी—आज सिगनल को बन्द हुए आठ दिन हो गये···मुझे लगता है, जैसे हम लोग

ध्रुव-प्रदेश से गिरे हुए किसी उड़ाके को बचाने जा रहे हों, और देर होने से उत्कंठा और चिन्ता बढ़ती है कि क्या वह कल तक बचा रहेगा? क्या मैं झूठमूठ की रोमांस गढ़ रहा हूँ?

× × × ×

१९ जुलाई, शाम। पथ में ही शाम हो गई—लेकिन अब वह स्थान दूर नहीं है। रात में हम वहाँ जा लेंगे। यहाँ पहाड़ी रास्ते के मोड़ पर मुड़ने ही वह घर दीखने लगा, और देखते ही मुझे याद आया, मैं कितना थका हुआ हूँ! अब हम यहाँ बैठे हैं, संध्या कभी उस घर की ओर देखती है, कभी दूसरी पार अपने बाग़ की ओर, और धीरे-धीरे कुछ गुनगुनाती है। उसने अभी तक इस घर की या बलराज की कोई बात नहीं की है, मानो उसे सारे रास्ते-भर मेरी ही चिन्ता रही है; मुझसे वह रह-रहकर पूछा की है कि तबीयत कैसी है…कभी मुझे लगता है कि उसे इस सारे किस्से में मामूली कौतूहल से अधिक कुछ नहीं है! पर क्या संध्या इतनी शून्य हो सकती है? उसकी आँखों में जो मुझे दीखता है, वह क्या मेरी ही सृष्टि है? इस समय साँझ के धुँधलके में उसका गुनगुनना क्या केवल साँझ के रंगों का ही मुखर रूप है और उससे अधिक कुछ नहीं?

लेकिन—संध्या की हल्की-सी चीख सुनकर मैं देखता हूँ—सिगनल! घर की खिड़की से बिजली की बैटरी का सिगनल—"मैं तुमसे प्रेम करता हूँ—मैं तुमसे प्रेम करता हूँ—मैं तुमसे—" और बस।

हमें जाना चाहिए, अभी चलना चाहिए। मन में संशय का दानव कहता है, शायद उसकी बैटरी खत्म हो गई थी और नई बैटरी की प्रतीक्षा में आठ-नौ दिन बीते, यही तुम्हारी इस सारी बेवकूफी का नतीजा निकलेगा; पर मन नहीं लगता, अभी चलना ही होगा, चाहे पहुँचते-पहुँचते मेरे हृदय का स्पन्दन बन्द हो जाय…सत्य को जनाना ही होगा…

× × ×

२४ जुलाई। सत्य—किसे कहते हैं हम सत्य? लेकिन ऊपर का पन्ना पढ़ता हूँ तो मन कहता है, आख़िर तुम सत्य जान ही गये…जब पूछता हूँ, क्या जान गया, तो उत्तर नहीं मिलता। सिवाय इसके कि अब यहाँ अच्छा नहीं हो सकूँगा।

एक अस्वस्थ पीला शरीर, अपनी श्यामता में सुनहले तारे उलझाये हुए बाल, शान्त चेहरा…उस अँधेरे घर में घुसकर जब मैंने बत्ती जलाई तब यही देखा। चारपाई खाली थी, बलराज खिड़की के पास ज़मीन पर लेटा हुआ था, और उसके हाथ के पास टार्च पड़ी थी। मैंने लपककर बलराज

का कन्धा पकड़कर हिलाया, नब्ज देखी और घबराकर कहा—'हैं ?' पर संध्या अपने स्थान पर ही ऐसे स्तब्ध, गतिहीन खड़ी रही, मानो मैं अनुसन्धान करके जो-कुछ पता लगाऊँगा, वह उसे पहले से जानती है, वह सब उसके भीतर घटित हो चुका है···वह छोटी-सी लड़की जिसने अभी तक यह नहीं जाना था कि प्रेम क्या होता है, कैसे बिना प्रयास के प्रेम, मृत्यु, अनन्तता तक का अर्थ मानो ज्ञान का एक ही घूँट पीकर जान गई और उससे विचलित नहीं हुई···

आज छः दिन हो गये इसको ; लेकिन वे सब दृश्य मेरे आगे ऐसे फिर रहे हैं, जैसे अभी वह सब कुछ हो रहा हो . फिर भी सोचने को, लिखने को, कुछ नहीं है। ऐसे भी क्षण होते हैं, जो जीने के लिए होते हैं—और उसके बाद याद करने के लिए नहीं, पीछे देख-देखकर बार-बार फिर जीने के लिए होते हैं...ऐसा ही क्षण वह था, जब मैं बलराज के सिरहाने झुककर बैठा हुआ उसके चेहरे की ओर देखता जा रहा था, उस मनःशक्ति की लहरों में बहा जा रहा था, जो इस चिररुग्ण क्षीण शरीर को चारपाई से खींचकर खिड़की तक लाई थी, एक अज्ञात स्वप्न को अपनी दीप्ति द्वारा खींच बुलाने के लिए और जब संध्या खिड़की पर खड़ी पार की ओर टकटकी लगाये देख रही थी...और वह क्षण तब समाप्त हुआ, जब संध्या ने घूमकर बहुत धीमे स्वर में पूछा—'अगर मैं टार्च ले लूँ, तो चोरी तो न होगी ?'

मैंने टार्च उठाकर उसे दे दी और एक मूक दृष्टि से उसे वह कह देना चाहा जो जबान से नहीं निकला कि यह तो आठ वर्ष से तुम्हारी ही है...

लेकिन अब टार्च से क्या ? जीवन में जो टार्च होती है, रोमांस, वह संध्या के लिए बुझ गई है। अब उसे सिगनल द्वारा कोई बुलाता है तो काल—और उसका संकेत, उसका प्रसाद, क्या है ? शून्य, शून्य, शून्य...

———

सेव और देव

नवम्बर १९३७

प्रोफ़ेसर गजानन पण्डित ने अपना चश्मा ,पोंछकर फिर आँखों पर लगाया और देखते रह गये।

मोटर पर से उतरकर और सामान डाकबँगले में भिजवाकर उन्होंने सोचा था, अभी आराम करने की जरूरत तो है नहीं, जरा घूम-घामकर पहाड़ी सौन्दर्य देख लें, और इसी लिए मोटर के अड्डे के धक्कम-धक्के से अलग होकर वे इस पहाड़ी रास्ते पर हो लिए थे। छाया में जब चश्मे का काँच ठण्डा हो गया और उस पर उनके गर्म बदन से उठी हुई भाप जमने लगा, तब उन्होंने चश्मा उतारकर रूमाल से मुँह पोंछा, फिर चश्मा साफ़ करके आँखों पर चढ़ाया और फिर देखते रह गये।

पहाड़ी रास्ता आगे एकाएक खुल गया था, चीड़ के वृक्ष समाप्त हो गये। रास्ते को पार करता हुआ एक झरना बह रहा था—उसका जितना अंश समतल भूमि में था उस पर तो छाया थी, लेकिन जहाँ वह मार्ग के एक ओर नीचे गिरता था, वहाँ प्रपात के फेन पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। ऐसा जान पड़ता था कि अन्धकार की कोख से चाँदी का प्रवाह फूट पड़ा है—या प्रकृति-नायिका की कजरारी आँखों से स्नेह के गद्‌गद्‌ आँसुओं की झड़ी... और उसके पार एक चट्टान के सहारे एक पहाड़ी राजपूत बाला खड़ी थी, उसकी चौंकी हुई भोली शक्ल से साफ़ दीखता था कि प्रोफ़ेसर साहब का वहाँ अकस्मात् आ जाना उसे एकदम अनधिकार-प्रवेश मालूम हो रहा है।

प्रोफ़ेसर साहब देहली के एक कॉलेज में प्राचीन इतिहास और पुरातत्त्व के अध्यापक हैं। वे उन थोड़े-से लोगों में हैं, जिनका पेशा और मनोरञ्जन एक ही है—मनोरञ्जन के लिए भी वे पुरातत्त्व की ओर ही जाते हैं। यहाँ कुल्लू पहाड़ की सुरम्य उपत्यकाओं में भी वे यही सोचते हुए आये हैं कि यहाँ भारत की प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष उन्हें मिलेंगे, और हिन्दू-काल की शिल्प-कला के नमूने, और धातु या प्रस्तर या सुधा की मूर्तियाँ और न जाने क्या-क्या...लेकिन इतना सब होते हुए भी सौन्दर्य के प्रति—जीते-जागते स्पन्दन-युत क्षणभंगुर सौन्दर्य के प्रति—उनकी आँखें अन्धी नहीं हैं। बाला को वहाँ खड़ी देखकर, उसके पैरों के पास बहते झरने का शब्द सुनते हुए उन्हें पहले त एक हंसिनी का ख्याल आया, फिर सरस्वती का (यद्यपि बाला के हाथ में वीणा नहीं, एक छोटी-सी छड़ी थी)। उन्होंने अपने स्वर को यथासंभव कोमल बनाकर पूछा—तुम कहाँ रहती हो ?

बाला ने उत्तर नहीं दिया, ससंभ्रम दृष्टि से उनकी ओर देखकर जल्दी-जल्दी पहाड़ी पर चलने लगी।

प्रोफ़ेसर साहब मुस्कराकर आगे चल दिये। बालिका का भोलापन उन्हें अच्छा-अच्छा लगा। सोचने लगे, कितने सीधे-सादे सरल स्वभाव के होते हैं यहाँ के लोग! प्रकृति की सुखद गोद में खेलते हुए इन्हें न फ़िक्र है, न खटका है, न लोभ-लालच है। अपने खाने-पीने, ढोर चराने, गाने-नाचने में दिन बिता देते हैं। तभी तो बाहर से आनेवाले आदमी को देखकर संकोच होता है। अपने-आपमें लीन रहनेवाले इन भोले प्राणियों को बाहरवालों से क्या सरोकार ?

आगे बढ़ते बढ़ते प्रोफ़ेसर साहब सोचने लगे, ऐसे भले लोग न होते तो प्राचीन सभ्यता के जो अवशेष बचे हैं, वे भी क्या रह जाते? ख़ुदा-न-ख़ास्ता ये लोग यूरोपियन सभ्यता के सीखे हुए होते तो एक दूसरे को नोचकर खा जाते, उसकी राख भी न बची रहने देते। लेकिन यहाँ तो फ़ाहियान के ज़माने का ही आदर्श है, सबको अपने काम से मतलब है, दूसरे के काम में दख़ल देना, दूसरे के मुनाफ़े की ओर दृष्टि डालना यहाँ महापाप है। लोग ढोर चरने छोड़ देते हैं, शाम को ले आते हैं। कभी चोरी नहीं, शिकायत नहीं। खेती खड़ी है, कोई पहरेदार नहीं। मजाल क्या कि एक भुट्टा भी चोरी हो जाय। 'मेरे ख़्याल में तो अगर मैं एक चवन्नी यहाँ राह में फेंक दूँ, तो कोई उठायेगा भी नहीं कि न जाने किसकी है और कौन लेने आय।'

रास्ता अब फिर घिर गया था; लेकिन चीड़ के दीर्घकाय वृक्षों से नहीं, अब उसके दोनों ओर सेव के छोटे-छोटे लचीले गातवाले पेड़, डार-डार पर

लदे हुए फलों के कारण मानो विनय से झुके हुए—क्योंकि जहाँ सार होता है, वहाँ विनय भी अवश्य होता है, क्षुद्रव्यक्ति ही अविनयी हो सकता है—और कभी-कभी हवा से झूम-से जाते हुए। कुल्लू के जगत्प्रसिद्ध सेवों की प्रशंसा प्रोफ़ेसर साहब ने सुन ही रखी थी, कई बार मँगाकर सेव खाये भी थे, लेकिन आज इस प्रकार पेड़ पर लगे हुए असंख्य फलों को देखकर उनकी तबीयत ख़ुश हो गई। और इससे भी अधिक ख़ुशी हुई इस बात से कि गन्ध और स्वाद और रस की उस विपुल राशि का न कोई रक्षक देखने में आता है, न बचाव के लिए बाड़ तक लगाई गई है। पहाड़ी सभ्यता के प्रति उनका आदर-भाव और भी बढ़ गया। क्या शहर में इस तरह बाग़ रह सकता? फलों के कभी पकने की नौबत न आती। और नहीं तो स्कूल-कॉलेजों के लड़के ही टिड्डी-दल की तरह आकर सब साफ़ कर देते और जितना खाते नहीं, उतना बिगाड़ देते। वहाँ तो कोई बाग़ लगाये तो दस-एक भोजपुरिये लठैत पहरेदार रखे, और फिर भी चारों ओर जेल की-सी दीवार खड़ी करे कि कोई लुक-छिपकर न ले भागे, तब कहीं जाकर चैन से रह सके। और यहाँ—यहाँ बाग़ की सीमा बनाने के लिए एक तार का जँगला तक नहीं है। पेड़ों के नीचे जो लम्बी-लम्बी पहाड़ी घास लग रही है, वही रास्ते के पास आकर रुक जाती है, वहीं तक बाग़ की सीमा समझ लो तो समझ लो। यहाँ तो—

प्रोफ़ेसर साहब के पास ही धम्म से कुछ गिरा। उन्होंने चौंककर देखा, उन्हें आते देख एक लड़का पेड़ पर से कूदा है और उसकी अपर्याप्त आड़ में छिपने की कोशिश कर रहा है। उसके हाथ में दो सेव हैं, जिन्हें वह अपने फटे हुए भूरे कोट में किसी तरह छिपा लेना चाहता है।

उसकी झेंपी हुई आँखें और चेहरा साफ़ कह रहा था कि वह चोरी कर रहा है।

साधारणतया ऐसी दशा में प्रोफ़ेसर साहब किंचित् ग्लानि से उसकी ओर देखते और आगे चल देते, लेकिन इस समय वैसा नहीं कर सके। उन्हें जान पड़ा कि यह लड़का उस सारी प्राचीन आर्य-सभ्यता को एक साथ ही नष्ट-भ्रष्ट किये दे रहा है जो फ़ाहियान के सदियों पहले से अक्षुण्ण बनी चली आई है। वे लपककर उस लड़के के पास पहुँचे और बोले—क्यों बे बदमाश, चोरी कर रहा है? शर्म नहीं आती दूसरे का माल खाते हुए!

लड़का घबराया-सा खड़ा रहा, बोल नहीं सका। प्रोफ़ेसर साहब और भड़क उठे। एक तमाचा उसके मुँह पर जमाया, सेव छीनकर घास में फेंक

दिये जहाँ वे ओझल हो गये और फिर गर्दन पकड़कर लड़के को ढकेलते हुए रास्ते की ओर ले आये।

'पाजी कहीं का! चोरी करता है? तेरे-जैसों के कारण तो पहाड़ी लोग बदनाम हो गये हैं। क्यों चुराये थे सेब? यहाँ तो पैसे के दो मिलते होंगे, एक पैसे के खरीद लेता। ईमान क्यों बिगाड़ता है?

रास्ते पर लड़के को उन्होंने छोड़ दिया। वह वहीं खड़ा आँसू-भरी आँखों से उधर देखता रहा जहाँ घास में उसके तोड़े हुए सेब गिरकर आँखों से ओझल हो गये थे।

प्रोफ़ेसर साहब आगे बढ़ते हुए सोच रहे थे, खड़ा देख रहा होगा कि चोरी भी की तो भी फल नहीं मिला। बहुत अच्छा हुआ। सेवों का सड़ जाना अच्छा, चोर को मिलना अच्छा नहीं। सड़ें, चोर को क्या हक़ है कि खाये?

(२)

प्रोफ़ेसर साहब एक गाँव के पास आ रुके। अन्दाज़ से उन्होंने जाना कि यह मनाली गाँव होगा और उन्हें याद आया कि यहाँ पर एक दर्शनीय प्राचीन मन्दिर है। गाँव के लोगों से पता पूछते हुए वे मनु के मन्दिर पर पहुँच ही गये। मन्दिर छोटा था, सुन्दर भी नहीं था, लेकिन संसार भर में मनु का एकमात्र मन्दिर होने के नाते वह अलग महत्त्व रखता था। प्रोफ़ेसर साहब कितनी ही देर तक एकटक होकर उसकी ओर देखते रहे, यहाँ तक कि देहरी पर बैठे हुए बूढ़े पुजारी का ध्यान भी उनकी ओर आकृष्ट हो गया; आने-जानेवाले तो ख़ैर देखते ही थे।

प्रोफ़ेसर साहब ने गद्गद स्वर में पूछा—आसपास और भी कोई मन्दिर है?

पास खड़े एक आदमी ने कहा—नहीं बाबूजी, यहाँ कहाँ मन्दिर।

'यहाँ मन्दिर नहीं? अरे भले आदमी, यहाँ तो सैकड़ों मन्दिर होने चाहिए। यहाँ पर—'

'बाबूजी यहाँ तो लोग मन्दिर देखने आते नहीं। कभी-कभी कोई आता है तो यह मनू रिखि का मन्दिर देख जाता है, बस और तो हम जानते नहीं।'

पुजारी ने खाँसते हुए पूछा—कौन-सा मन्दिर देखियेगा बाबू?

'कोई और मन्दिर हो, आसपास के सब मन्दिर-मूर्तियाँ मैं देखना चाहता हूँ।'

पुजारी ने थोड़ी देर सोचकर कहा—और तो कोई नहीं, उस चोटी के

ऊपर जंगल में एक देवी का थान है। वहाँ पहले कभी एक किला भी था, जिसके अन्दर देवी के थान में पूजा होती थी, पर अब तो उसके कुछ पत्थर ही पड़े हैं। वहाँ कोई जाता नहीं। अब उसमें भूत बसते हैं।

प्रोफ़ेसर साहब कुछ मुस्कराये, लेकिन बोले—कैसे भूत ?

'कहते हैं कि पुराने राजाओं के भूत रहते हैं—वे राजा बड़े परतापी थे।'

'अरे उन भूतों से मेरी दोस्ती है।'—कहकर प्रोफ़ेसर साहब ने रास्ता पूछा, और क्षण भर सोचकर पहाड़ पर चढ़ने लगे। पुजारी ने 'पास ही' बताया था, तो मील भर से अधिक नहीं होगा, और अभी तीन बजे हैं, शाम होने तक मजे में बँगले पर पहुँच जाऊँगा।

जंगल का रूप बदलने लगा। बड़े-बड़े पेड़ समाप्त हो गये, अब छोटी-छोटी झाड़ियाँ ही दीख पड़ने लगीं। यह पहाड़ का वह मुख था, जो हवा के थपेड़ों से सदा पिटता रहता था—जाड़ों में तो बर्फ़ की चोटें यहाँ लगे हुए किसी पेड़-पैधे को कुचल डालतीं। प्रोफ़ेसर साहब को समझ में आने लगा कि यह ऊँचा शिखर किले के लिए बहुत उपयुक्त जगह है, और यह भी जान गये कि यहाँ बना हुआ किला उजड़कर कितनी जल्दी निरवशेष हो जायगा।

झाड़ियाँ भी छोटी होती चलीं। घास के बजाय अब पथरीली ज़मीन आई, जिसमें किसी तरफ़ कोई बनी हुई पगडण्डी नहीं थी ; जिधर चले जाओ वही मार्ग। कहीं-कहीं लाल पत्थर के भी कुछ टुकड़े दीख जाते थे, जो शायद किले की इमारत में कहीं लगे होंगे—नहीं तो उधर तो लाल पत्थर होता नहीं। कहीं-कहीं पत्थर और मिट्टी के स्तूपाकर टीले की आड़ में कोई गाढ़े रंग के पत्तोंवाली झाड़ी लगी हुई दीख जाती, तो वह आस-पास के उजाड़ सूनेपन को और भी गहरा कर देती। साँझ के धुँधले में ऐसी झाड़ी को देखकर स्तूप में से धूम्रवत् निकलते हुए किसी प्रेत की कल्पना होना कोई असंभव बात नहीं थी।

एक ऐसे स्तूप की आड़ में प्रोफ़ेसर साहब ने देखा, एक गड्ढे में कीच भरी है जिसकी नमी से पोसे जाते हुए दो वृक्ष खड़े हैं और उनके नीचे पत्थर का एक छोटा-सा मन्दिर है, जिसका द्वार बन्द पड़ा है।

प्रोफ़ेसर साहब ने कुण्डे में अटकी हुई कील निकाली तो द्वार खुलने के बजाय आगे गिर पड़ा—उसके कब्ज़े उखड़ गये हुए थे। उन्होंने किवाड़ को उठाकर एक ओर धर दिया, थोड़ी देर पीछे हटकर खड़े रहे कि बन्द और सील के कारण बदबूदार हवा बाहर निकल जाय, फिर भीतर झाँकने लगे।

मन्दिर की बुरी हालत थी। भीतर न जाने कब के बलि-पशुओं के

सींग—बकरे के और हिरन के—पड़े हुए थे जो सूखकर धूल के रंग के हो गये थे—उनपर कीड़े भी चल रहे थे। फ़र्श के पत्थरों के जोड़ों से काई उग आई थी। उन सींगों के ढेर से परे देवी की काले पत्थर की मूर्ति एक ओर को लुढ़क गई थी। पास में पड़ी हुई गणेश की पीतल की मूर्ति जंग से विकृत हो रही थी। केवल दूसरी ओर खड़ा श्वेत पत्थर का शिवलिङ्ग अब भी साफ़, चिकना और सधे हुए सिपाही की तरह शान्त खड़ा था। आस-पास की जर्जर अव्यवस्था में उसके उस दर्पोन्नत भाव से ऐसा जान पड़ा था, मानो क्रुद्ध होकर कह रहा हो, मेरी इस निभृत अन्तःशाला में आकर मेरे कुटुम्ब की शान्ति भङ्ग करनेवाले तुम कौन?

दो-एक मिनट प्रोफ़ेसर साहब देहरी पर खड़े-खड़े ही इस दृश्य को देखते रहे। फिर उन्होंने बाँह पर टँगा हुआ अपना ओवरकोट नीचे रखा, एक बार चारों ओर देखकर निर्जन पाकर भी जूते खोल देना ही उचित समझा और भीतर जाकर देवी की मूर्ति उठाकर देखने लगे।

मूर्ति अत्यन्त सुन्दर थी। पाँच सौ वर्ष से कम पुरानी नहीं थी। इस लंबी अवधि का उस पर ज़रा भी प्रभाव नहीं पड़ा था—या पड़ा था तो पत्थर को और चिकना करके मूर्ति को सुन्दर ही बना गया था। मूर्ति कहीं बिकती तो तीन-चार हज़ार से कम की न होती—किसी अच्छे पारखी के पास होती तो दस हज़ार भी कुछ अधिक मूल्य न होता और यह यहाँ ऐसी उपेक्षित हालत में पड़ी है। न जाने कबसे कोई इस मन्दिर तक आया भी नहीं है।

प्रोफ़ेसर साहब ने मूर्ति ठीक स्थान पर सीधी करके रख दी और फिर देहरी पर आकर उसका सौन्दर्य देखने लगे।

पाँच सौ वर्ष! पाँच सौ वर्ष से यह यहीं पड़ी होगी? न जाने कितनी पूजा इसने पाई होगी, कितनी बलियों के ताज़े, गर्म, पूत रक्त से स्नान करके अपना दैवी सौन्दर्य निखेरा होगा, और अब कितने बरसों से इन रेंगते हुए कीड़ों की लम्बी-लम्बी जिज्ञासु मूँछों की ग्लानि-जनक गुदगुदाहट सह रही होगी···उफ़, देवत्व की कितनी उपेक्षा! मानव नश्वर है, वह मर जाय और उसकी अस्थियों पर कीड़े रेंगें, यह समझ में आता है; लेकिन देवता··· पत्थर जड़ है; उसका महत्त्व कुछ नहीं! लेकिन मूर्ति तो देवता की ही है, देवत्व की, चिरन्तनता की निशानी तो है। एक भावना है, पर भावना आदरणीय है। क्या यह मूर्ति यहीं पड़े रहने के काबिल है? इन कीड़ों के लिए जिनके पास श्रद्धा को दिल नहीं, पूजने को हाथ नहीं, देखने को आँखें नहीं,

छूने को त्वचा तक नहीं, टटोलने को ये हिलती हुई गन्दी मूछें हैं''यह मूर्ति कहीं ठिकाने से होती—

न जाने क्यों प्रोफ़ेसर साहब ने एकाएक मन्दिर-द्वार से हटकर चारों ओर घूमकर देखा, फिर देखा, न जाने क्यों आस-पास निर्जन पाकर तसल्ली की साँस ली और फिर वहीं आ खड़े हुए।

मूर्ति गणेश की भी बुरी नहीं, लेकिन वह उतनी पुरानी नहीं, न उतनी सुन्दर शैली पर निर्मित है। पीतल की मूर्ति में कभी वह बात आ ही नहीं सकती जो पत्थर में होती है। देवी की उस मूर्ति को देखते-देखते प्रोफ़ेसर साहब के हृदय की स्पन्दन-गति तीव्र होने लगी—इतनी सुन्दर जो थी वह! वे फिर आगे बढ़कर उसे उठाने को हुए, लेकिन फिर उन्होंने बाहर झाँककर देखा, पर वहाँ कोई नहीं था, कोई आता ही नहीं उस बेचारे उजड़े हुए मन्दिर के पास—किसे परवाह थी निर्जन को अपनी दीप्ति से जगमग करती हुई उस देवी की! देवी के प्रति दया और सहानुभूति से गद्गद होकर प्रोफ़ेसर साहब फिर भीतर आये, लपककर मूर्ति को उठाया और अपने धड़कते हुए हृदय को शान्त करने की कोशिश करते हुए एकटक उसे देखने लगे।

दिल इतना धड़क क्यों रहा है? प्रोफ़ेसर साहब को ऐसा लगा जैसे वे डर रहे हैं। फिर उन्हें इस विचार पर हँसी-सी भी आ गई। डर किससे रहा हूँ मैं? प्रेतों से? मैं भी क्या यहाँ के लोगों की तरह अन्ध-विश्वासी हूँ जो प्रेतों को मानूँगा? कविता के लिहाज़ से भले ही मुझे यह सोचना अच्छा लगे कि यहाँ प्रेत बसते हैं, और रात को जब अँधेरा हो जाता है, तब इस बन्द मन्दिर में आकर देवी के आस-पास नाचते होंगे···देवी है, शिव हैं, उनके गण भी तो होने चाहिए। रात को मूर्तियों को घेर-घेरकर नाचते होंगे और इन न जाने कबके बलि-पशुओं के भस्मीभूत सींगों से प्रेतोचित प्रसाद पाते होंगे! और दिन में—मन्दिर की कन्दराओं में, दरारों में छिपकर अपनी उपास्य मूर्तियों की रक्षा करते होंगे, देखते होंगे कि कौन आता है, क्या करता है···

उन्होंने फिर मूर्ति को रख दिया और लौटकर देखा। उन्हें एकाएक लगा जैसे उस अखण्ड नीरवता में कोई छाया-सा आकर उनके पीछे भागकर कहीं छिप गया है। प्रेत! वे फिर एक रुकती-सी हँसी हँसकर बाहर निकल आये। इस घोर निर्जन ने मेरे शहर के शोर से उलझे स्नायुओं को और उलझा दिया है। इसी नतीजे पर वे पहुँचे और फिर मन्दिर की ओर देखने लगे।

दिन ढल रहा था। मन्दिर की लम्बी पड़ती हुई छाया को देखकर प्रोफ़ेसर साहब को ऐसा लगा, वह मानो दूर हटती-हटती भी मन्दिर से अलग

होना नहीं चाहती, उससे चिपटी हुई है, मानो उसकी रक्षा करना चाहती हो, मानो वह मन्दिर और उसकी मूर्तियाँ उस छाया की गोद के शिशु हों। प्रोफ़ेसर साहब का मन भटकने लगा।

इजिप्ट के पिरामिड भी इतने ही उपेक्षित पड़े थे। यह मन्दिर आकार में बहुत छोटा है, वे विराट थे ; लेकिन उपेक्षा तो वही थी। उनमें भी न जाने क्या-क्या बातें फैला रखी थीं, भूत-प्रेतों की। अन्त में यूरोप के पुरातत्त्वविद् साहस करके वहाँ गये, उन्होंने उनमें प्रवेश किया, और अब संसार के बड़े-बड़े संग्रहालयों में वे खज़ाने पड़े हैं और महत्त्व के अनुरूप सम्मान पाते हैं। फ़िलाडेलफ़िया के अजायबघर में नूताँ खामेन की वह स्वर्णमूर्ति—उस नौ सेर खरे सोने का ही मूल्य तीस हजार रुपये होगा—फिर प्राचीनता का मूल्य अलग और उसमें जड़े हुए हीरे जवाहरात का अलग...कुल मिलाकर लाखों रुपये की चीज़ है वह...

वे फिर भीतर गये। मूर्ति उठाई और रखकर बाहर आ गये। उन्होंने फिर सब ओर देखा। कोई नहीं था। सूर्य भी एक छोटे-से बादल के पीछे छिप गया था।

एकाएक उनकी घबराहट का कारण स्पष्ट हो गया। कुछ ठण्ड-सी जानकर उन्होंने जल्दी से ओवरकोट पहना और फिर भीतर चले गये।

मूर्ति के उपयुक्त यह स्थान कदापि नहीं है। मन्दिर है, पर जहाँ पूजा ही नहीं होती वह कैसा मन्दिर ? और गाँववाले परवाह करते हैं ? यहाँ मन्दिर भी गिर जाय तो शायद महीनों उन्हें पता ही न लगे—कभी किसी भटकी हुई भेड़-बकरी की खोज में आया हुआ गड़रिया आकर देखे तो देखे। यहाँ मूर्ति को पड़ा रहने देना भूल ही नहीं, पाप है।

इस निश्चय पर आकर भी उन्होंने एक बार बाहर आकर तसल्ली की कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा है, तब लौटकर मूर्ति उठाकर जल्दी से कोट के भीतर छिपाई, किवाड़ को यथास्थान खड़ा किया, बूट एक हाथ में उठाये और बिना लौटकर देखे भागते हुए उतरने लगे।

जब देवी का स्थान और उसके ऊपर खड़े दोनों पेड़ों की फुनगी तक आँखों के ओट हो गई, तब उन्होंने रुककर बूट पहने और फिर धीरे-धीरे उतरते हुए ऐसा मार्ग खोजने लगे जिससे गाँव में से होकर न जाना पड़े, शिखर के दूसरे मुख से ही वे उतर सकें।

गाँव मील भर पीछे छूट गया था। सेवों के बगीचे फिर शुरू हो गये थे। कहीं, कहीं कोई मधु पीकर अघाया हुआ मोटा-सा काला भौंरा प्रोफ़ेसर साहब के कोट से टकरा जाता था, कभी कोई तितली उनका रास्ता काट जाती

थी। सूर्य की धूप लाल हो गई थी— वे सब अपना-अपना ठिकाना खोज रहे थे। प्रोफ़ेसर साहब भी अपने ठिकाने की ओर जा रहे थे। उनका हृदय आह्लाद से भर रहा था। उनका पहला ही दिन कितना सफल हुआ था! कितना सौन्दर्य उन्होंने देखा था—और कितना सौन्दर्य, बहुमूल्य सौन्दर्य उन्होंने पाया था। कुल्लू का अनिर्वचनीय सौन्दर्य! वास्तव मे वह देवताओं का अंचल है...

उस समय प्रोफ़ेसर साहब के भीतर जो कुल्लू-प्रेम का ही नहीं, मानव-प्रेम का, संसार-भर की शुभेच्छा का रस उमड़ रहा था, उसकी बराबरी कुल्लू के रस-भरे सेव भी क्या करते! प्रोफ़ेसर साहब की स्नेह उड़ेलती हुई दृष्टि के नीचे से मानो और पककर और रस से भर जाते थे, उनका रंग कुछ और लाल हो आता था। कितने रस-गद्‌गद हो रहे थे प्रोफ़ेसर साहब!

सेव के बाग में फिर कहीं धमाका हुआ। प्रोफ़ेसर साहब ने देखा, एक लड़का उन्हें देखकर शाख से कूदा है, उसके कूदने के धक्के से फलों की लदी हुई शाखा टूटकर आ गिरी है।

प्रोफ़ेसर साहब ने रोब के स्वर में कहा—क्या कर रहा है?

लड़के ने सहमकर उनकी ओर देखा—वही लड़का था! हाथ का थोड़ा-सा खाया हुआ सेव वह कोट के गुलूबन्द के भीतर छिपा रहा था।

प्रोफ़ेसर साहब के तन में आग लग गई। लपककर बालक के कोट का गला उन्होंने पकड़ा, झटका देकर बाहर गिराया, दो तमाचा उसके मुँह पर लगाते हुए कहा—बदमाश, फिर चोरी करता है! अभी मैं डाँट के गया था, बेशर्म को शर्म भी नहीं आती।

उन्होंने लड़के को छाती में धक्का दिया। वह लड़खड़ाकर कुछ दूर जा पड़ा, गिरने को हुआ, सँभल गया; फिर एक हाथ से कोट को वहीं से थामकर जहाँ प्रोफ़ेसर साहब ने धक्का दिया था, एक दर्दभरी चीख़ मारकर रो उठा।

चीख़ सुनकर प्रोफ़ेसर साहब को कुछ शान्ति हुई, कुछ आनन्द-सा हुआ। विद्रूप से उन्होंने कहा—क्यों, दुखती है छाती? और छिपाओ सेव वहाँ पर!

बात में भरे हुए तिरस्कार को और तीखा बनाने के लिए उनके हाथ ने उसका अनुकरण किया, उठकर तेजी से प्रोफ़ेसर साहब के ओवरकोट के कालर में घुसा।

एकाएक प्रोफ़ेसर साहब पर मानो गाज गिरी। एक चौंधिया देनेवाला आलोक क्षण-भर उनके आगे जलकर एक वाक्य लिख गया—इसने तो सेव चुराया है, तुम देवस्था न लूट लाये!

सहमे हुए स्तंभित-से प्रोफ़ेसर साहब क्षण-भर खड़े रहे, फिर धीरे-धीरे उलटे पाँव गाँव की ओर चल पड़े।

तर्क उन्हें सुझाने लगा कि यह बेवकूफ़ी है, उनकी दलील बिल्कुल गलत है, तुलना आधार-हीन है; लेकिन वे न जाने कैसे इस सब बुद्धि की प्रेरणा के प्रति बहरे हो गये थे। जैसे-जैसे कोलाहल बढ़ने लगा, उसे रोक रखने के लिए उनकी गति भी तीव्रतर होती गई। जब वे आँधी की तरह गाँव में से गुज़रे, तब घर जाता हुआ प्रत्येक व्यक्ति कुछ विस्मय से उनकी ओर देखता और उन्हें लगता कि वे उनकी छाती की ओर ही देख रहे हैं, जैसे उस काले ओवरकोट की ओट में छिपी हुई देव-मूर्ति को और उससे पीछे भी प्रोफ़ेसर साहब के दिल में बसे हुए पाप को वे ख़ूब अच्छी तरह जानते हैं।

अँधेरा होते-होते वे मन्दिर पर पहुँचे। किवाड़ एक ओर पटककर उन्होंने मूर्ति को यथास्थान रखा। लौटकर चलने लगे तो आस-पास के वृक्ष अँधेरे में और भयानक हो गये। सुनसान ने उन्हें फिर सुझाया कि वे एक निधि को नष्ट कर रहे हैं, लेकिन जाने क्यों उनके मन में शान्ति उमड़ आई। उन्हें लगा कि दुनिया बहुत ठीक है, बहुत अच्छी है।

कविता और जीवन-एक कहानी

नवम्बर १९३७

मैं आपको सिर्फ़ कहानी नहीं, कहानी से अधिक कुछ सुनाने लगा हूँ। ज़रा कान लगाकर और कान से अधिक मन लगाकर सुन लीजिए। जो गाली आप देना चाहते हैं—पढ़कर आप गाली देंगे यह तो निश्चित है—उसे ज़रा अन्त तक रोक रखिए। 'सब्र का फल मीठा होता है'—क्या पता आपके सब्र का मुझे मिलनेवाला फल, यह गाली, भी मीठी होती जाय? इस 'कहानी' पर कलम घिसने का पारिश्रमिक मुझे नहीं मिलेगा, यह तो आप जानते ही होंगे, इसलिए गाली के बारे में फ़िक्रमन्द होने के लिए आप मुझे क्षमा कर देंगे, यह उम्मीद है।

और जब 'कहानी से अधिक कुछ' कहने लगा हूँ, तब प्लाट-कथानक के झगड़े में क्या पड़ना। ये छोटी बातें कहानी के लिए ठीक होती हैं। यहाँ तो जो सामने आ जाय वही उपयुक्त है। तो लीजिए, याद आती है हरिद्वार की एक बात—

शिवसुन्दर को सूझा था कि वह कलकत्ते में रहकर गली-गली की खाक छानकर कविता करना चाहता है, तभी कविता नहीं बनती। बंगाली क्लर्क, सिख ड्राइवर, ऐंग्लो-इण्डियन लोफ़र-लफंगे, बिहारी कान्स्टेबल और सभी जगह के भिखमंगे—सब आदमी, आदमी, आदमी—भला यह भी कोई कविता का विषय है? इंसान और कविता—हुँह! कविता के लिए चाहिये प्रकृति, नदी-नाले, पलाश के उपवन, लता-फूल, मलय-पवन, और दूर कहीं कुछ अस्पष्ट अदृष्ट नहीं, दूर कहीं किसी नूपुरवलयित रहस्यमयी की पग-ध्वनि...और इस सूझ के उठते ही वह बोरिया-बिस्तर—बिस्तर कम, बोरिया

अधिक—लेकर हरिद्वार चला आया था। गुरुकुल की तरफ़ नहर के किनारे एकान्त में एक मकान में सिरे का कमरा उसे मिल गया था, वहीं रहकर वह कविता के प्रादुर्भाव की प्रतीक्षा कर रहा था।

वह अभी प्रकटी नहीं थी। दिन भर अरहर के खेतों में भटकना उसे अच्छा लगा था, दूर एक पहाड़ी की चोटी पर बने हुए देवी के मन्दिर की आड़ में सूर्य का मुँह छिपा लेना और भी अच्छा लगा था; और शाम को गङ्गा की ओर से जो तेज़ और शीतल हवा आकर बारीक पिसे हुए रेत का परिमल उसके सारे चेहरे पर चिपका गई थी, वह भी उसे बुरा नहीं लगा था...लेकिन अच्छे लगकर ही यह सब रह गये थे, जिस दैवी घटना की उन्मेष की आशा उसने की थी वह नहीं हुआ था। रात को चारपाई पर लेटा-लेटा वह सोच रहा था कि क्यों नहीं हुआ वह उन्मेष, और कुछ उत्तर नहीं पा रहा था। केवल एक अतृप्ति-सी उसे घेर रही थी। वह कभी ऊँघ लेता, फिर जाग जाता, और जागने पर न जाने क्यों उसे सूना-सूना लगता और झल्लाहट होती। उसे लगता कि जीवन बहुत अधिक नीरस है, उसे जीने के लिए कविता की ज़रूरत है, मुखर सौन्दर्य की ज़रूरत है...

वह फिर ऊँघ गया और जब वह चौंककर जागा तब आधी रात थी। उस सन्नाटे में अकस्मात् जाग जाने का कारण उसे नहीं समझ आया; वह कान लगाकर सुनने लगा कि किस स्वर ने उसे जगाया था।

कुछ नहीं। यों ही जग गया वह।

लेकिन—उसे जान पड़ा कि कमरे की खिड़की के बाहर कहीं नूपुरों की ध्वनि हो रही है, रह-रहकर बदल-बदलकर, मानो कोई स्त्री संभ्रान्त गति से चल रही है, कभी रुककर और कभी तेज़ी से।

इतनी घनी रात में कौन बाहर? और क्यों? शिवसुन्दर पूरी तरह जाग गया। उसकी अशान्ति केन्द्रित होकर एक तनी हुई-सी प्रतीक्षा बन गई।

नूपूरों की ध्वनि फिर आई। उसने कोशिश की, कान लगाकर पहचान सके कि कहाँ से आती है, लेकिन उसे लगा कि कभी वह एक तरफ़ से आती है, कभी दूसरी।

क्या हवा ही उसे धोखा दे रही है? रह-रहकर एक मीठा-सा झोंका आ जाता है, कभी एक तरफ़ से, कभी दूसरी तरफ़ से, क्या इसी लिए तो नहीं वह स्वर भी भागता हुआ जान पड़ता? क्योंकि किसी अभिसारिका का—यदि वह स्त्री अभिसारिका है तो, लेकिन और हो क्या सकती है?—ऐसे समय इधर-उधर भागना, वह भी जब उसके पायल इतनी ज़ोर से बज रहे हों, कुछ जँचता नहीं। कवि भी कह गये हैं, 'मुखरमधीरं त्यज मञ्जीरं—'

तभी पायल बड़े ज़ोर से बज उठे—खन्न् खन्न् ।

शिवसुन्दर उठ बैठा । यह स्वर मानो उसके सिरहाने के पास से ही आ रहा था । उसका हृदय धक-धक करने लगा—इस एकान्त निर्जन स्थल में किसी अपरिचिता का इतना साहस···

पायल फिर बजे, और शिवसुन्दर जान गया कि वे कहाँ हैं । उसके सिरहाने के पास की खिड़की के बाहर ही वह स्वर है ।

लेकिन कौन है वह स्त्री, और इतनी रात वहाँ क्यों है ? और इतना हौसला कैसे है उसका कि—? शायद कोई पुंश्चली स्त्री होगी—लेकिन पुंश्चली होती, तो क्या इससे अधिक चतुर न होती, चुपचाप न आती ?

शिवसुन्दर को प्रतीत हुआ कि बहुत तेज़ गति से बहुत-सा सोच जाने की ज़रूरत है । वह जल्दी-जल्दी दिन भर में देखे हुए प्रत्येक स्त्री-मुख को याद करने लगा—कौन हो सकती है जो उसके पास आई है ?

···तमोलिन से जब पान लिया था, तब वह पैसा लेते हुए सिर मटकाकर मुस्करा दी थी । लेकिन उस मुस्कराहट में तो ख़ास कोई बात नहीं थी—लगी तो वह ऐसी ही थी मानो गाहक का दस्तूर हो–जैसे पान के साथ तम्बाकू मुफ्त मिलता है, वैसे ही मुफ्त यह मुस्कान दी गई जान पड़ती थी । लेकिन कौन जाने, यह आधी रात में बजते हुए पायल भी उसके 'दस्तूर' ही में शामिल हों ..

···शाम को उसने हलवाई से दूध लिया था, तब हलवाई की लड़की भी बैठी थी । शिवसुन्दर एकटक उसकी ओर देख रहा है, सहसा यह जानकर वह शर्म से लाल हो आई थी और भीतर चली गई थी । शर्म क्या है, पुरुष को आकर्षित करने का एक साधन—तभी तो मारवाड़िनें पति के सामने घूँघट निकालती हैं, लेकिन मेलों में अधनंगी ही आती हैं—पति को आकर्षित करना होता है और दूसरे आदमी आदमी थोड़े हैं, सिर्फ़ ग़ैर हैं ।

···और वह माँगनेवाली औरत—ऐसी उसने कभी नहीं देखी थी । जब वह साधारण अपील से आकृष्ट नहीं हुआ, तब बोली, 'तेरा धोवन पी लूँ, बाबू एक पैसा दे । तेरा थूक चाट लूँ, बाबू—' जब इससे भी उसे ग्लानि ही हुई तब—तेरे गुलाबी गालों पै मरूँ, बाबू एक पैसा दे । तेरी दाढ़ी को हाथ लगाऊँ बाबू—'और बढ़कर ठोढ़ी ही तो पकड़ ली थी उसने···

शिवसुन्दर उस खिड़की पर जा पहुँचा । आँखें फाड़-फाड़कर उसने बाहर देखा, कोई नहीं दीखा । वह फिर आकर चारपाई पर लेट गया ।

और तभी पायल फिर बजे । वह फिर उठ बैठा ।

अपने हृदय का स्पन्दन उसके लिए असह्य होने लगा । उसने फिर

खिड़की पर जाकर देखा—कुछ नहीं। तब उसने एकदम किवाड़ खोल दिये और बाहर निकल आया। घर का चक्कर काटा, लेकिन कोई नहीं दीखा। वह फिर किवाड़ पर आकर रुका—कि दूर कहीं पायल फिर बजे! शायद वह स्त्री हताश होकर लौटी जा रही है, अरहर के खेतों में से वह स्वर आया था। शिवसुन्दर के भीतर उत्कण्ठा इतनी उमड़ आई थी कि अब उस रहस्य को खोल डालना बहुत जरूरी हो गया था—उस स्त्री को खोज लेना···और रात भी तीव्र गति से बीतती जा रही है, यह भी फ़िक्र उसे हो गई थी। नींद उसकी आँखों में नहीं थी, कुछ और था जो उसके लिए अभ्यस्त नहीं था और जिसका वह नाम नहीं जानता था···

वह लपककर अरहर के खेत में घुसा। उसके मन में आया, अगर मैं शब्दवेधी बाण चलाने की क्रिया जानता तो उसे बाणों से ऐसा घर लेता कि एक जगह टिककर खड़ी रहती! लेकिन—लेकिन—

उसका हृदय धक् से हो गया—बहुत पास ही कहीं बहुत मधुर कोमल स्वर से पायल बजे—खन्न्!

शिवसुन्दर की आतुर आँखों ने अन्धकार को भेद डालना चाहा, पर कुछ दीखा नहीं। उसे शीघ्र ही आनेवाले सबेरे की याद आई, पर सबेरा होने से सब चौपट हो जायगा! उसने धीरे से पुकारा, 'कौन हो तुम?'

जवाब नहीं आया। उसने फिर कहा—'कौन हो? इधर निकल आओ!'

फिर भी उत्तर नहीं मिला। उसे बिहारी का एक दोहा याद आया—अरहर कपास, ईख सब कट जायँगे···अभी अरहर काटने के दिन नहीं आये, पर वह तो रात भी नहीं बीतने देना चाहता···उसने फिर पुकारा, 'कहाँ हो तुम?'

उत्तर में कुछ दूर पर पायल बजे! दाईं ओर कहीं पर—लेकिन नहीं, वे फिर बजे तो उसे प्रतीत आ कि बाईं ओर हैं। वह खेत से बाहर निकलकर मेंड़ पर आया, हताश-सा बैठ गया।

हवा का झोंका कभी-कभी आता था, तब उसमें बसे हुए शीत से शिवसुन्दर का कुण्ठित मन और भी सिकुड़ जाता था···और तब दूर कहीं, कभी इधर, कभी उधर पायल बज उठते थे···

रात—या यों कहें कि भोर, क्योंकि पौ फटने ही वाली थी—अत्यन्त सुन्दर थी। लेकिन शिवसुन्दर का ध्यान उधर नहीं था, वह मर्माहत-सा मेंड़ पर बैठा था···

उषा की एक लाल किरण आकाश में फिर गई, मानो देवी के आने के लिए मार्ग को बुहार गई, किसी लाल मंगल-सूचक चूर्ण से चौक पूर गई।

शिवसुन्दर की थकी आँखों ने देखा ; चारों ओर प्रकृति का लास है—नदी है, नहर है, पलास के फूले हुए उपवन हैं, समीरण धीरे-धीरे बहने लगा है और फिर न जाने किसके पायलों की ध्वनि उसके पास लिये आ रहा है…लेकिन इस सबकी जैसे उस पर छाप नहीं पड़ी। उसमें सिर्फ़ एक ही जिज्ञासा थी—जिसके पायल हैं, वह कहाँ है ?

पायल उसके हाथ के पास कहीं बजे। उसने चौंककर देखा, वहाँ एक छोटा-सा, सूखा-सा पौधा था, और कुछ नहीं !

और पौधा हवा के झोंके में फिर काँपकर बोला, खन्न् !

क्षण भर शिवसुन्दर स्तब्ध रह गया, फिर मानो आकाश से गिरा··फिर उसमें एकाएक निराशा का क्रोध उमड़ आया, उसने एक ही झटके में उस पौधे को जड़ समेत नोच लिया।

और उसके क्रोध-कम्पित हाथों में भी उस पौधे में लगी हुई पकी फलियों ने कहा, 'खन्न् !'

शिवसुन्दर ने उस हताश में मानो सत्य को देख लिया, लेकिन समझने से पहिले ही वह सत्य बुझ भी गया—उसने जाना कि वह सिर्फ़ कविता नहीं चाहता है, सिर्फ़ सौन्दर्य नहीं चाहता है, इससे अधिक कुछ चाहता है… लेकिन क्या चाहता है, वह नहीं जानता, इतना जानता है कि वह अतृप्त रह गया है, भूखा रह गया है, चौंककर ऐसे जाग गया है कि उन्निद्र हो गया है, उसे…

(२)

शिवसुन्दर धीरे-धीरे घर लौटा। रात भर की घटनाएँ मानो एक पहले कभी सुने हुए ग्राम्य-गीत की एक पंक्ति में सिमटकर उसके मन में गूँजने लगीं—'तेरी पैंजनिया ज्यूँ बाजें ज्यूँ बाजें बीज सणी दा !' बेवकूफ कहीं का—उल्टी बात कहता है ! आख़िर गँवार रहा होगा ! 'बीज सणी दा ज्यूँ बाजे ज्यूँ बाजे तेरी पैंजन' यों होना चाहिए था !

पर घर पहुँचते-पहुँचते वे घटनाएँ इससे भी छोटी एक सूक्ति में सिमट आईं—वह जीवन माँगता है।

कविता माँगना, सौन्दर्य माँगना, बेवकूफ़ी है। जहाँ जीवन नहीं है, वहाँ कविता क्या और सौन्दर्य क्या ! वे होंगे वैसे ही खोखले जैसा यह बजता हुआ सनी का बीज !

तब फिर कलकत्ता ? लेकिन कलकत्ता जीवन कहाँ है, वह तो निरा सत्य ही सत्य है, कड़वाहट ही कड़वाहट है। वाक्यं रसात्मकं काव्यं—और कड़वा अधिक से अधिक छः रसों में से एक है, तब सत्य भी जीवन का अधिक से

अधिक एक छठा हिस्सा है...बाक़ी पाँच ? बाक़ी पाँच ? और कहाँ हैं, मधुरेण समापयेत् । मधुर नहीं तो कुछ नहीं—वही रसों में रस है...

शिवसुन्दर की समझ में आ गया कि उसने गुरुकुल की तरफ़ आकर ग़लती की । वह सामान लेकर हर-की-पौड़ी पहुँचा, वहाँ मेले की भीड़ को चीरता हुआ भीतर घुसा और अन्त में ठीक-ठाक करके उसने एक कमरा ले लिया जिससे गंगा और उसके पार की पहाड़ियाँ भी दीखती थीं, और इस पार घाट की सीढ़ियाँ, उस पर आने-जानेवाली भक्त-भक्तिनियों की भीड़ और ऊपर का रास्ता भी दीखता था ।

सामान एक ओर रखकर वह झरोखे पर बैठ गया और नीचे झाँकने लगा।

जीवन पाने का यही ठीक ढंग है । कलकत्ते में तो आदमी पिस जाता है—वह भी किन में ? गन्दे, मैले-कुचैले लोगों में जिनसे छू जाने पर दिन भर अपने शरीर में बू आती है । यहाँ और बात है—सौन्दर्य भी है; लोग भी हैं, गति भी है, और फिर भी वह अलग है, इस भीड़ भड़क्के के अधीन नहीं, उससे ऊपर है, दर्शक है । दर्शक होकर ही जीवन से काव्य-रस खींचा जा सकता है—जो स्वयं उसमें पड़ गया वह तो तिल हो गया जिसे पेरकर तेल खींचा जायगा ।

शिवसुन्दर की दृष्टि नीचे घाट की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई दो स्त्रियों पर टिक गई । तभी न जाने क्यों उन्होंने भी आपस में बात करते-करते ही ऊपर देखा । शिवसुन्दर से आँख मिलने पर वे मुस्करा दीं और आगे बढ़ गईं ।

हाँ, ठीक तो है । जिस चीज़ की ओर यह इशारा है, वह प्रेम ही तो है । जीवन ही तो है, क्योंकि प्रेम जीवन का मधुरतम रस है ।

लेकिन मन शिवसुन्दर का चाहे जितना भागे, दृष्टि उसकी नीचे ही लगी हुई थी । दो और स्त्रियाँ उसके दृष्टि-पथ से गुज़र रही थीं । शिवसुन्दर एकटक उनकी ओर देख रहा था । एक ने तिरछी चितवन से उसे देखा, वह दृष्टि मानो कौंधकर कुछ कह गई ; पर दूसरी ने एक तीखी, सशंक और कुछ-कुछ भीत दृष्टि अपनी संगिनी और शिवसुन्दर पर डाली और अधिक तीव्र गति से आगे चल पड़ी ।

शिवसुन्दर थोड़ा-सा मुस्करा दिया । फूल के साथ काँटे तो होने ही चाहिए, नहीं तो जीवन का मज़ा क्या । एक ओर आकर्षण, दूसरी ओर विघ्न, यही तो है जीवन ।

न जाने क्यों, स्त्रियाँ जोड़ियों में ही जा रही थीं, अकेली नहीं । एक और जोड़ा सामने से गुज़रा । इन्होंने भी न जाने क्यों झरोखे के पास आकर ऊपर देखा । उनकी दृष्टि में सन्देह पहले से था, जब उन्होंने शिवसुन्दर को

एकटक देखते हुए पाया तब उसमें क्रोध भी आ मिला। अवज्ञासे सिर हिलाकर वे आगे निकल गईं।

शिवसुन्दर ने सोचा, विरोध में एक आकर्षण होता है। वह आह्वान करता है कि आओ, मुझसे दो-दो हाथ खेल लो। आचार्य भी कह गये हैं कि बिना संघर्ष के, conflict के, कला का विकास नहीं होता! हो कैसे सकता है?

ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता आता था, स्नानार्थी अधिकाधिक संख्या में आते जाते थे। अब औरतें भी झुण्ड बाँध-बाँधकर आ रही थीं, और झुण्ड ही लौटने लगे थे।

एक टोली शिवसुन्दर के झरोखे के नीचे से निकली। उन कई एक औरतों में से एकने भी आँख उठाकर नहीं देखा, उनके लिए मानो शिवसुन्दर था ही नहीं।

शिवसुन्दर ने तड़पकर कहा, 'नहीं, नहीं, यह नहीं है जीवन! यह झूठ है, यह असत् है, अशिव है, असुन्दर है! यह हो ही नहीं सकता। यह जीवन नहीं है!'

लेकिन वह समूह निकल गया; उसके बाद और भी कई टोलियाँ स्त्रियों की आईं और निकल गईं, पर किसी ने नहीं देखा कि जीवन का भिक्षु शिव-सुन्दर झरोखे में खड़ा है, वह प्रवाह उसकी आँखों के आगे से वैसे ही निकल गया जैसे नदी के बीच में अथाह पानी बहता हुआ चला जाता पर किनारे से सटे हुए और सड़ते हुए तृण को वहीं पड़ा रहने देता है, हिलाता भी नहीं...उसे लगा, वह समुद्र की लहरों द्वारा उच्छिष्ट रेत पर पड़े एक घोंघे के भीतर सड़ते हुए जीव की तरह है, कि वह इस प्रवाह के आगे जूठन की तरह अत्यंत नगण्य, क्षुद्र हो गया है...

और उसने फिर तड़पकर कहा,-'नहीं, यह झूठ है, यह नहीं है जीवन! मैं नहीं माँगता यह!'

लेकिन वह क्या माँगता है आखिर? वह जानता है कि यह नहीं है जो उसने माँगा था; लेकिन क्या माँगा था उसने, यह तो वह नहीं जानता है। वह इतना ही जानता है कि वह क्षुद्र हो गया है, अपनी आँखों में गिर गया है, जब कि आशा थी उसे बड़े हो जाने की, स्वामित्व की...

वह झरोखे से हट गया और सोचने लगा, क्या मैं कलकत्ते लौट जाऊँ? लेकिन इस विचार से वह सहम गया। कलकत्ते में तो कविता नहीं बनेगी; यहाँ शायद—इस अतृप्त और अपदस्थता में शायद...

विधि हँसती है। विधि हँसती है या नहीं, कौन जाने; पर वह हँसती ज़रूर है। मुहावरे ने उसे हँसने का हक़ दिया है।

लेकिन शिवसुन्दर की माँगें? उसकी अतृप्ति? उसकी वासनाएँ?

विज्ञान की पुस्तकें उसकी समस्याओं का उत्तर देने की कोशिश करती हैं। लेकिन वे विदेशी हैं। विदेशी ज्ञान शिवसुन्दर क्यों चाहे? वह हिन्दी लेखक है। हिन्दी राष्ट्रभाषा है। वह राष्ट्रभाषा का लेखक है! क्या इतना ही इसलिए पर्याप्त नहीं है कि वह आँखें बन्द करके गाया करे, गाया करे अपनी माँग के गान, अपनी अनुभूति के गीत, नहीं, अनुभूति के अपने अनुभव के आलाप! चाहे वह गाना उस सिखाये हुए मँगते की पुकार की तरह क्यों न हो जो एक दमड़ी की उपलब्धि के लिए पहले स्वर में दीनता लाता है, फिर उस दीन स्वर को सुनकर स्वयं मान लेता है, वह आर्त है? शिवसुन्दर भी तो आकाश के तारे तोड़ने का दम नहीं भरता, सामर्थ्य की डींग नहीं हाँकता; अभिमान के तिक्त और कर्म के कषाय रसों से उसे क्या, वह तो 'मधुरेण समापन' चाहता है; वह तो माँगता है, सिर्फ़ माँगता है एक छदाम!

× × ×

अब आपको मौक़ा है कि आप गाली दे लें। कहानी ख़त्म हो गई है। लेकिन जो कुछ आपको कहना है, जल्दी कह डालिए, क्योंकि मुझे अभी कुछ और निवेदन करना है! मैंने कहा था न 'कहानी से अधिक कुछ कहूँगा?'

शायद आपको लगे कि मैंने कहानी भी नहीं कही, अधिक की क्या बात। लेकिन अगर आपको यह लगा है तो आप अब तक दिल के गुबार निकाल चुके होंगे। अन्त में 'अधिक कुछ' मुझे यह कहना है कि अगर मेरी रचना में आपको 'छोटा मुँह बड़ी बात' जान पड़ी हो, तो यह सोचकर क्षमा कर दीजिए कि आख़िर मैं भी एक दुर्भाग्य का मारा हिन्दी लेखक हूँ, उस हैसियत से मैं भी आकाश के तारे तोड़ने या सामर्थ्य की डींग मारनेवाला, अभिमान का तिक्त और कर्म का कषाय रस पीनेवाला कौन होता हूँ, मैं भी तो 'मधुरेण समापयेत्' के लिए माँगता हूँ सिखाये हुए आर्त्तस्वर में आपकी दया का एक छदाम!

पुलिस की सीटी

मार्च १९३८

सीटी बजी।

सत्य सड़क पर चलता-चलता एकाएक रुक गया, स्तब्ध, बिल्कुल निश्चेष्ट होकर खड़ा रह गया।

सीटी फिर बजी।

सत्य के हाथ-पैर काँपने लगे, टाँगें लड़खड़ा-सी गईं, उसे जान पड़ा, मानो अभी संसार अँधेरा हो जायेगा, पृथ्वी स्थानच्युत हो जायगी—उसने सहारे के लिए हाथ आगे बढ़ाया। हाथ कुछ थाम नहीं सका, मुट्ठी भर उड़ती हुई हवा को अँगुलियों में से फिसल जाने देकर खाली ही रह गया, तब सत्य ने समझ लिया कि वह गिरेगा, गिरकर ही रहेगा। उसने आँखें बन्द कर लीं...

× × ×

एक साल पहले—

पार्क में सत्य धीरे-धीरे टहल रहा था। उसके हृदय में जो व्यग्रता भर रही थी उसे किसी तरह वह छिपा लेना चाहता था, लेकिन वह छिपती नहीं थी। इस पर उसका मन एकाएक झल्ला उठता था, क्योंकि वह तो क्रान्तिकारी है, उसकी तो पहली सीख ही यह है कि अपने उद्वेगों को प्रकट मत होने दो। जो आत्मिक शक्ति उद्वेग पैदा करना चाहती है उसे क्रिया शक्ति में, कठोर कर्मठता में परिवर्तित कर दो। फिर उसी झल्लाहट से वह उद्वेग और

भी प्रकट हो गया-सा जान पड़ता, और सत्य ज़रा तेज़ी से टहलने लग जाता...

विस्तृत हरियाली के परले पार से एक आदमी निकलकर सत्य की ओर आ रहा था। जब वह सत्य के बिल्कुल निकट आ गया, तब सत्य ने धीरे से कहा,--"कहिए—" और फिर दोनों बाँह में बाँह डाले एक घने छायादार वृक्ष की ओर चल पड़े।

"क्या-क्या समाचार हैं?"

सत्य जल्दी जल्दी अपनी बात कहने लगा। समाचार उसके पास अधिक नहीं थे, लेकिन इस मितभाषी, प्रचण्डकर्मा नेता चूड़ामणि के प्रति उसमें इतनी श्रद्धा थी कि उसके प्रत्येक आदेश को वह एक साँस में ही पूरा कर डालना चाहता था। अभी उसकी कोई बात पूरी नहीं हुई थी कि चूड़ामणि ने उसे टोककर शान्त किन्तु फिर भी न जाने क्यों अधिकार-भरे स्वर में कहा—'अच्छा, मेरे पीछे पुलिस है। मेरे यहाँ होने का तो पता था ही, आज एक आदमी ने शायद पहचान भी लिया है। पुराना दोस्त था। कुछ गड़बड़ हो सकती है।'

सत्य ने अचकचाकर कहा—"तो—?"

"मैं उसके लिए तैयार हूँ। तुम हो कि नहीं? तुम्हें अभी यहाँ से निकल जाने के लिए तैयार होना चाहिए।"

एकाएक सत्य को लगा कि पार्क में कहीं कुछ शंकनीय बात है। अकारण ही उसके मन में घिर गये होने का, थोड़ी-सी घबराहट का भाव उदित हुआ। जो लोग ख़तरे में रहते हैं वही इस तर्कातीत भावना को समझ सकते हैं—बल्कि वे भी सदा नहीं समझते। सत्य भी नहीं समझ सका कि वह ऐसा शंकित और कंटकित क्यों हो उठा है। उसने अनिश्चित स्वर में कहा,—"मुझे शक होता है कि कुछ गड़बड़ है—"

चूड़ामणि स्थिर दृष्टि से हरियाली के पार तीव्र गति से पेड़ों के झुरमुट की ओर जाते हुए एक मानवी आकार की ओर देख रहे थे। आँखें उधर गड़ाये हुए ही बोले,—"तुम्हें शक है, मुझे निश्चय है। उस आदमी को मैं जानता हूँ। अभी पाँच मिनट के अन्दर कुछ होगा। इधर आओ।"

चूड़ामणि उठकर पेड़ के तने की ओट हो गये। सत्य भी पीछे-पीछे हो लिया। इस तरफ़ पेड़ के पीछे एक पत्थरों की दीवार थी, दीवार के दूसरी ओर एक खाई जिसमें बरसाती पानी भरा हुआ था।

चूड़ामणि ने कहा—"अभी जो कुछ होनेवाला है उससे चौंकना मत।

उसका संबन्ध मुझसे है—मुझी से है। तुम सुनो, तुम्हें क्या करना है और सुनकर जाओ। यहाँ से—"

तभी सीटी बजी। एक बार, दूसरी बार कुछ अधिक तीखी, फिर एक साथ कई सीटियाँ—वातारण मानो अनेक साँपों की फुफकार से सजीव होकर चीख़ उठा हो।

चूड़ामणि ने अपने कपड़ों के भीतर से दो रिवाल्वर निकाले और दोनों के चेम्बर जाँचकर सन्नद्ध होकर बैठ गये।

सत्य ने देखा, सामने एक झुरमुट की आड़ में तीन-चार व्यक्ति—छिपी-छिपी, दीख न सकनेवाली, किसी छठी इन्द्रिय से जानी जानेवाली गति—फिर इस्पात की नीली-सी चमक···

"मेरे ठीक पीछे खड़े रहो—पेड़ के इधर-उधर न होना।

सत्य ने आज्ञा का पालन किया। सर्राती हुई एक गोली उसके पास से निकल गई।

"ठीक। शुरू है।"

एक और गोली। फिर एक साथ सनसनाती हुई कई गोलियाँ।

"अब मेरी बारी है।"

एक!

दो!

तीन!

दूसरी ओर से कराहने की आवाजें, और उसके बाद गोलियों की तीव्र बौछार।

"लो और।" चूड़ामणि ने भी तीन-चार फ़ायर और किये।

"लो इसे भरो।" रिवाल्वर सत्य को थमाकर वे दूसरे रिवाल्वर से निशाना साधने लगे।

"हाँ सुनो। तुम्हें यहाँ से सीधे कानपुर जाना होगा। वहाँ विश्वनाथ से मिलो। उसे एक पत्र देना है—मेरी बाईं जेब से निकाल लो—और कहना है कि इसमें दी हुई हिदायतों के अनुसार वह काम करे। पते भी इसी पत्र में दिये हुए हैं। पढ़ने की विधि वह जानता है।"

दो-एक गोलियाँ चलाकर वे फिर कहने लगे—"वहाँ से फिर यहाँ लौट-कर आना—पर बहुत जल्दी नहीं और गरिमा से मिलना। उसे मैं कह आया था कि जब तक मेरा आदेश न हो, यहाँ से टले नहीं। और अब-अब मैं आदेश देने नहीं जा सकूँगा।" उनकी हँसी बिल्कुल खोखली थी। "उसे कहना कि

यहाँ से टल जाय—लेकिन तुम उसे पहचान तो लोगे न! एक ही बार देखा है—"

"हाँ।" सत्य को याद आ गया। गरिमा चूड़ामणि की बहन थी और विधवा थी। उसका पति चूड़ामणि के क्रान्तिकारी दल की ओर से किसी आक्रमण की तैयारी में अकस्मात् विस्फोट हो जाने से मर गया था। वही उस आक्रमण का नेता था, इसलिये उसकी आकस्मिक मृत्यु से सबके हौसले पस्त हो गये थे। लेकिन गरिमा ने कहा—"उनका काम मैं पूरा करूँगी। और अगर उनके चले जाने से लोगों के हौसले टूट जायेंगे, तो—तो मैं उनकी मृत्यु को अत्यन्त गुप्त रखूँगी। उसका किसी को पता भी नहीं लगेगा मैं अपने मन, वचन और कर्म के जोर से लोगों के सामने उन्हें जीवित रखूँगी। आप लोग इसमें मेरी सहायता करें।" सत्य ने गरिमा को केवल एक बार देखा था—पति के देहान्त के अगले दिन प्रातःकाल के समय। उस समय वह स्नान के उपरान्त एक ऐसा काम कर रही थी जिसके एक क्रान्तिकारिणी द्वारा किये जा सकने की बात सत्य ने कल्पना में भी नहीं देखी थी—वह माँग में सिन्दूर भर रही थी। सत्य ने जब जाकर उससे अपना सन्देश कहा था तब वह मुस्करा भी सकी थी..."

"पहचान लूँगा।" एक ही बार देखा है, पर वैसे दो बार दीखता कौन है? लेकिन—

"क्या?"

'लेकिन यदि मैं पहुँच न सका तो!'

"सकना क्या होता है! मैं कहता हूँ कि पहुँचना होगा, तो पहुँचना होगा। तुम्हें नहीं, मेरे सन्देश को। होना, न होना, संभव होना, यह आदमियों के साथ, जीवन के साथ है। कर्त्तव्य के साथ एक ही बात होती है—होना। चाहे किसी तरह, किसी के हाथ।"

गोलियों की बौछार फिर हुई।

"अच्छी बात; तो गरिमा से कह देना। यदि वह न माने कि तुम मेरा सन्देश लेकर आये हो, तो उसे याद दिलाना कि हरनौटा गाँव के पास उसने मेरी बाँह पर पट्टी बाँधी थी तो उसमें एक फूल भी बाँध दिया था। और वह फूल—"

फिर गोलियों की तीखी बौछार हुई। चूड़ामणि ने धीरे-धीरे निशाना साधकर उत्तर दिया। दूसरी ओर से फिर बौछार हुई। लेकिन गोलियों का शोर कराहने की आवाज़ों को छिपा न सका।

"इसे भरो—वह मुझे दे दो।"

सत्य चुपचाप दूसरे रिवाल्वर में कारतूस भरने लगा।

"और कितने राउंड हैं?"

"बाईस।"

"दस अलग करो।"

अनैच्छिक क्रिया से चलती हुई गोलियों के धड़ाके गिनते हुए सत्य ने चूड़ामणि की आज्ञा का पालन किया। गोलियाँ चलती रहीं। दूसरी ओर से फिर कराहने का स्वर आया और उसके बाद एकाएक गोलियों की तीखी उत्क्रुद्ध बौछार...

"हूँ। किसी अफ़सर के गोलि लगी है।"

"कैसे?"

"देखते नहीं, कैसा क्रुद्ध और बेअन्दाज़ फायरिंग हो रहा है?"

"हूँ।"

क्षण भर की नीरवता, जिसे एक-आध गोली ने ज़रा-सा कँपा-सा दिया।

"इसे भरो। बाकी चार राउण्ड अपनी जेब में डाल लो।"

सत्य ने वैसा ही किया।

"बाकी बारह मेरे आगे रख दो।"

यन्त्र चालित-से सत्य ने यह आदेश भी पूरा किया।

"अब तुम्हारे जाने का वक्त आ गया—जाओ! उफ़!"

एक गोली चूड़ामणि की दाहिनी बाँह में कलाई से कुछ ऊपर लगी थी।

यह तो ठीक नहीं हुआ। ख़ैर। उन्होंने दूसरा हाथ सत्य की ओर बढ़ाया। "वह भरा रिवाल्वर मुझे दो—यह ख़ाली और कारतूस तुम ले जाओ—भागते-भागते भर लेना।"

"पर—"

इसकी अनसुनी करते हुए चूड़ामणि ने कहा—"यहाँ से पेड़ की आड़ रखते हुए ही दीवार के पास जाओ—वहाँ झाड़ी के पीछे झुककर गोली की मार से बाहर हो जाना। बस, फिर दौड़ना—निकल जाओगे।"

"पर आपको छोड़कर—"

"जाओ! कारतूस थोड़े हैं और मेरा बाँया हाथ है। जाओ—मैं कहता हूँ—चले जाओ!"

सत्य अत्यन्त अनिच्छापूर्वक हटने लगा। झाड़ी के पास पहुँचकर उसने लौटकर देखा। रिवाल्वर में कारतूस भरते समय चूड़ामणि के एक और गोली लगी थी।

"भइया, प्रणाम।" भर्राई हुई आवाज़ में सत्य ने पुकारा।

"हूँ । अभी यहीं हो ? मेरा आखिरी फ़िल (fill) है ।"

सत्य दीवार के नीचे पहुँच गया। अब उसे दौड़कर गोलियों की मार से बाहर निकल जाना ही शेष था। दौड़ने से पहले उसने एक बार फिर लौटकर देखा।

"गये ?" चूड़ामणि एकाएक पेड़ की आड़ में से निकलकर खुले में आ गये थे, निशाना साधकर गोली चलाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे।

कराहने की आवाज़ें—उसके ऊपर चूड़ामणि का कृत निश्चय से गूँजता हुआ स्वर—"और लो ! और लो ! और यह लो ! सिर्फ़ आखिरी राउंड मेरा है ।"

चीखें। कराहने का स्वर। फिर और तीखी दर्द-भरी चीखें।

सत्य दौड़ा।

"और गरिमा से कहना वह, फूल अभी तक मेरे पास है।"

भागते हुए सत्य ने गोली का एक दबा हुआ-सा स्वर सुना, मानो नली शरीरके बहुत नजदीक रखकर रिवाल्वर चलाया गया हो। उसके बाद गोलियों की लगातार कई मिनट की तीखी बौछार…

फिर सीटियाँ, तीखी, कर्कश सीटियाँ…और खाई का एक छोटा-सा पुल, फिर सड़क का एक मोड़, और फिर नीरवता !

एकदम अखण्ड नीरवता—केवल उसके पैरों का 'धम्-धम्' और उसके हृदय का 'धक्-धक्—' स्पन्दन…

× × ×

सीटी फिर बजी, तीखी और कर्कश।

जितना ही सत्य का शरीर अवश जड़ित होता जाता था, उतना ही उसका मन अवश गति से दौड़ रहा था…

गरिमा की आँखें कैसी थीं ? गति नहीं थी, ज्योति नहीं थी—थी एक भीषण जड़ता, एक सहसा रोमाञ्चित कर देनेवाली प्राणहीन स्थिरता। और वह वैसे ही निष्प्राण स्वर से सत्य की कही हुई बात का एक-एक वाक्य उसके पीछे दोहराती जा रही थी—एक अबोध पक्षी की तरह जिसे बोलने को ज़बान तो है लेकिन समझने को मस्तिष्क नहीं। 'पट्टी बाँधी थी, तो एक फूल भी बाँध दिया था।' हाँ, बाँध दिया था। 'कहा था, मेरे आदेश के बिना कहीं मत जाना।' हाँ, कहा था। 'उससे कहना, वह फूल अभी तक मेरे पास है।' 'आखिरी राउंड…'

हाँ, जब सत्य को जान पड़ा था कि अगर गरिमा कुछ देर भी और ऐसे रही, तो वह या अपना सिर फोड़ लेगा या उसे मार डालेगा—इतनी

सत्य चुपचाप दूसरे रिवाल्वर में कारतूस भरने लगा।

"और कितने राउंड हैं ?"

"बाईस।"

"दस अलग करो।"

अनैच्छिक क्रिया से चलती हुई गोलियों के धड़ाके गिनते हुए सत्य ने चूड़ामणि की आज्ञा का पालन किया। गोलियाँ चलती रहीं। दूसरी ओर से फिर कराहने का स्वर आया और उसके बाद एकाएक गोलियों की तीखी उत्क्रुद्ध बौछार...

"हूँ। किसी अफ़सर के गोलि लगी है।"

"कैसे ?"

"देखते नहीं, कैसा क्रुद्ध और बेअन्दाज़ फायरिंग हो रहा है ?"

"हूँ।"

क्षण भर की नीरवता, जिसे एक-आध गोली ने ज़रा-सा कँपा-सा दिया।

"इसे भरो। बाकी चार राउण्ड अपनी जेब में डाल लो।"

सत्य ने वैसा ही किया।

"बाकी बारह मेरे आगे रख दो।"

यन्त्र चालित-से सत्य ने यह आदेश भी पूरा किया।

"अब तुम्हारे जाने का वक्त आ गया—जाओ! उफ!"

एक गोली चूड़ामणि की दाहिनी बाँह में कलाई से कुछ ऊपर लगी थी।

यह तो ठीक नहीं हुआ। ख़ैर। उन्होंने दूसरा हाथ सत्य की ओर बढ़ाया। "वह भरा रिवाल्वर मुझे दो—यह खाली और कारतूस तुम ले जाओ—भागते-भागते भर लेना।"

"पर—"

इसकी अनसुनी करते हुए चूड़ामणि ने कहा—"यहाँ से पेड़ की आड़ रखते हुए ही दीवार के पास जाओ—वहाँ झाड़ी के पीछे झुककर गोली की मार से बाहर हो जाना। बस, फिर दौड़ना—निकल जाओगे।"

"पर आपको छोड़कर—"

"जाओ! कारतूस थोड़े हैं और मेरा बाँया हाथ है। जाओ—मैं कहता हूँ—चले जाओ!"

सत्य अत्यन्त अनिच्छापूर्वक हटने लगा। झाड़ी के पास पहुँचकर उसने लौटकर देखा। रिवाल्वर में कारतूस भरते समय चूड़ामणि के एक और गोली लगी थी।

"भइया, प्रणाम।" भर्राई हुई आवाज़ में सत्य ने पुकारा।

"हूँ। अभी यहीं हो ? मेरा आखिरी फ़िल (fill) है।"

सत्य दीवार के नीचे पहुँच गया। अब उसे दौड़कर गोलियों की मार से बाहर निकल जाना ही शेष था। दौड़ने से पहले उसने एक बार फिर लौटकर देखा।

"गये ?" चूड़ामणि एकाएक पेड़ की आड़ में से निकलकर खुले में आ गये थे, निशाना साधकर गोली चलाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे।

कराहने की आवाज़ें—उसके ऊपर चूड़ामणि का कृत निश्चय से गूँजता हुआ स्वर—"और लो! और लो! और यह लो! सिर्फ़ आखिरी राउंड मेरा है।"

चीखें। कराहने का स्वर। फिर और तीखी दर्द-भरी चीखें।

सत्य दौड़ा।

"और गरिमा से कहना वह, फूल अभी तक मेरे पास है।"

भागते हुए सत्य ने गोली का एक दबा हुआ-सा स्वर सुना, मानो नली शरीरके बहुत नजदीक रखकर रिवाल्वर चलाया गया हो। उसके बाद गोलियों की लगातार कई मिनट की तीखी बौछार...

फिर सीटियाँ, तीखी, कर्कश सीटियाँ...और खाईं का एक छोटा-सा पुल, फिर सड़क का एक मोड़, और फिर नीरवता!

एकदम अखण्ड नीरवता—केवल उसके पैरों का 'धम्-धम्' और उसके हृदय का 'धक् धक्—' स्पन्दन...

× × ×

सीटी फिर बजी, तीखी और कर्कश।

जितना ही सत्य का शरीर अवश जड़ित होता जाता था, उतना ही उसका मन अवश गति से दौड़ रहा था...

गरिमा की आँखें कैसी थीं ? गति नहीं थी, ज्योति नहीं थी—थी एक भीषण जड़ता, एक सहसा रोमाञ्चित कर देनेवाली प्राणहीन स्थिरता। और वह वैसे ही निष्प्राण स्वर से सत्य की कही हुई बात का एक-एक वाक्य उसके पीछे दोहराती जा रही थी—एक अबोध पक्षी की तरह जिसे बोलने को ज़बान तो है लेकिन समझने को मस्तिष्क नहीं। 'पट्टी बाँधी थी, तो एक फूल भी बाँध दिया था।' हाँ, बाँध दिया था। 'कहा था, मेरे आदेश के बिना कहीं मत जाना।' हाँ, कहा था। 'उससे कहना, वह फूल अभी तक मेरे पास है।' 'आखिरी राउंड...'

हाँ, जब सत्य को जान पड़ा था कि अगर गरिमा कुछ देर भी और ऐसे रही, तो वह या अपना सिर फोड़ लेगा या उसे मार डालेगा—इतनी

अमानुषी थी वह परिस्थिति—तभी उसकी आँखों में एक आँसू आया था। एक ही आँसू—दूसरा नहीं आया था, और पहला आँख से टपका नहीं था। लेकिन दुबारा उसने कहना चाहा था, 'राउण्ड मेरा है,' तब उसकी आवाज़ बदल गई थी, टूट गई थी—

आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू भरी आँख—

सीट फिर बजी। अबकी बार सत्य के बहुत ही निकट। इतने निकट कि उसकी घबराहट दूर हो गई, हाथ-पैर काँपने बन्द हो गये, उसने आँखें खोलीं की अब तो वह चोर ही गया, उसकी बारी आ ही गई; क्या हुआ एक साल बाद आई तो—क्या हुआ ऐसे घटना-पूर्ण खिंचाव-भरे एक साल बाद आई तो।

लेकिन आज एक साल बाद भी क्यों वह आँसू भरी आँख—

× × × ×

एक छोटा-सा लड़का सत्य के आगे खड़ा था। उसके हाथ में चमकता-सा कुछ था—

सत्य को एकाएक लगा कि वह बेवकूफ है—परले दर्जे का बेवकूफ, वज्र मूर्ख है—उसने हँसना चाहा लेकिन हँसी उसके गले के भीतर ही सूख गई। अपने आपको और भी अधिक बेवकूफ अनुभव करते हुए अटकती हुई ज़बान से किसी तरह कहा,—"ओ बच्चे तुम—तुम…"

बच्चे ने सीटी मुँह में डालते हुए सन्देह भरे स्वर में पूछा,—"क्या तुम-तुम ?"

बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे

मार्च १९४१

'धूल, धूल, धूल'''प्रातःकाल के नाम पर मेहतर के सीढ़ियाँ चढ़ने-उतरने की खटपट, फ़्लश ां का पानी बह जाने के बाद का 'घूम-घूम'; एकाध का रोना दो-एक बूढ़े गालों का खखारना और उबकियाँ लेना; और इन सबको एक सूत्र मे गूँथनेवाली दर्जन एक झाडुओं की रगड़ की आवाज़'''
और सायंकाल के नाम पर—'

आनन्द ने आँखें मूँद लीं, और जैसे किसी विभीषिका की कल्पना से काँप गया। उफ़, सभ्य मानव ने क्या बना दिया है उस चिर रहस्यमयी विभूति को, जिसे हम जीवन कहते आये हैं! नगरों की सुरक्षितता और कथित व्यवस्था में कैद होकर उसने ईश्वर-प्रदत्त जोखिम और अव्यवस्था से बचना चाहा है, जो कि वास्तव में जीवन की परिवर्तनशील और निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती रहनेवाली प्रवहमान विविधता है' सभ्यताएँ आई हैं, ईश्वर के नाम पर उन्होंने नगर बसाये हैं, मनुष्यों के भारी-भरी संघट्ट जुटाये हैं और अन्त में इतनी भीड़ कर दी है कि वह बिचारा ईश्वर ही बहिष्कृत हो गया है'''

आनन्द ने क्षण-भर ठिठककर आयास-पूर्वक इस विचार-शृङ्खला को झटककर तोड़ दिया। और जैसे सौन्दर्य को पा ही लेने के निश्चय से चारों ओर देखा।

चकराते के ऊपर की यह सड़क घूमती, बल खाती; चीड़ और देवदार और जंगली गुलाब की बड़ी-बड़ी झाड़ियों की आड़ लेती हुई बहुत दूर तक

चली गई थी और एक मोड़ के पास घनी छाया में अदृश्य हो गई थी। आनन्द कल ही चकराते पहुँचा था ; पहुँचने के बाद ही उसने गाइड पुस्तकों में उलट-पलटकर पता लगाया था कि इसी सड़क पर डेढ़-दो मील जाकर एक ऐसा स्थल आता है जहाँ से सुदूर बद्रीधाम की हिमाच्छादित पर्वत शृङ्ग-मालाएँ दीखती हैं। सांध्य सूर्य के लाल आलोक में यह दृश्य एक नई भव्यता प्राप्त कर लेगा, यह सोचकर आनन्द तीसरे पहर की लम्बी छायाओं को पैरों-तले रौंदता हुआ उधर बढ़ा जा रहा था। चढ़ाई बहुत नहीं थी—उससे दम नहीं फूलता था, और जितना आगे झुकना पड़ता था उतना तो विचार की मुद्रा में आदमी अपने-आप ही झुक जाता है। अतएव आनन्द के विचार-प्रवाह में बाहरी कोई बाधा नहीं थी। किन्तु इसका यह मतलब तो नहीं है न कि आदमी जो कुछ भी जी में आये अनाप-सनाप सोचता ही जाय ? न वह बाहर के तंग घरों और तंग दिलों के जीवन के बारे में झूठ-मूठ का दर्शन बघारना चाहता था। उससे परिणाम कुछ नहीं होता, केवल मूड बिगड़ता है ; और आनन्द सिद्धान्ततः जानता था कि सौन्दर्य-लाभ के लिए एक ग्रहणशीलता, एक खुलापन, आवश्यक है...

अपने विचारों को उसने यत्नपूर्वक ऐसी दिशा में मोड़ना शुरू किया जो कि उसकी समझ में सौन्दर्यबोध के अनुकूल होती। उसने अपने को याद दिलाया कि वह शहर को पीछे छोड़ आया है, जहाँ कि मकान-मालिक समूचा घर किराये पर देकर खुद गैराज में रहते हैं ताकि पैसा बचे ; जहाँ मकान-मालकिन नित्य किरायेदारों से लड़ती है कि पम्प का हैंडिल इतनी ज़ोर से न चलाया जाय; क्योंकि उसकी ढिबरियाँ घिस जायँगी; जहाँ दिन में किरायेदारों के बच्चे और रात में स्वयं किरायेदार अपने पड़ोसियों की देहरियों पर बैठकर पेशाब करते हैं, और जहाँ—लेकिन अब उस शहर की खूबियाँ क्यों गिनाई जायँ ! शहर तो पीछे रह गया था...अब तो चकराता है। और है हिमालय का वह अनिन्द्य अनवद्य सौन्दर्य जिसका आश्वासन गाइड पुस्तकों ने दिलाया है...

पक्की सड़क का पाट पहले से कुछ तंग हो गया था। सौन्दर्य का पथ राजपथ नहीं है—जितना ही तंग हो उतना होगा अधिक भवितव्य की आशा से भरा हुआ। चौड़ी सड़क—बिछी सड़क, चौड़ी चौरंगी, खड़ी लंठ-सी तेरह मंज़िल की बेशर्म इमारत...गद्दे गुलगुल...बैठे होंगे राजा थुलथुल... अथवा कि बहुत लड़ने के बाद खुत्थे हुए और नुचे पंखों को फुलाकर फिर एक दूसरे को ललकारनेवाले मुर्गों की तरह आमने-सामने अपने अधफटे और नये विज्ञापन उघाड़ते सिनेमा घर, और दर्शकों की भीड़ें—एक तरफ़ शान-

दार चौथे सप्ताह में 'मेरे साजन' तो दूसरी तरफ़ गलपोलिया का अमर शाह-कार 'मर्दमार औरत'—चौड़ी सड़कों से .खुदा बचाये! आनन्द को याद आया कि चकराते तक में सड़क के उस एकमात्र हिस्से पर जिसे वास्तव में चौड़ा कहा जा सकता, यानी चकराता और कैलाना की सड़कों के सन्धिस्थल पर, उसने जो कुछ देखा वह सब अप्रीतिकर ही था। एक तरफ़ वहाँ का एक-मात्र आमोद-गृह, जिस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था, 'केवल सैनिकों के लिए' और उसके नीचे इतराते हुए सैनिक अपनी-अपनी बाँह पर एक-एक मेम को सहारे हुए—'केवल सैनिकों के लिए' यों कि ये मेमें तो व्यक्ति नहीं हैं, वे तो केवल सैनिकों की साज-सामग्री का एक अनिवार्य अंश हैं...और दूसरी तरफ़ एक छोटा-सा चायघर जो गुलाबी रंग की लेसके परदों से ऐसा सजाया गया था मानो किसी अच्छे यूरोपीय बँगले का बाथरूम, और जो बाहर के बोर्ड से सूचित कर रहा था, 'केवल यूरोपीय के लिए।' अजीब प्राणी है मानव! कौवे तक को जब रोटी का टुकड़ा पड़ा हुआ दीखता है तो वह उसे उठाने से पहले काँव-काँव करके अपनी बिरादरी को जुटा लेता है। और एक मानव है कि अच्छी चीज़ देखकर सबसे पहले यह सोचता है कि मैं किस-किस को इससे वञ्चित रख सकता हूँ या बहिष्कृत कर सकता हूँ...

फिर दार्शनिकता? आनन्द, याद करो कि तुम चकराते में हो, जहाँ की हवा भारत भर की सबसे अधिक स्वास्थ्यकर हवा है, जहाँ के रास्ते भारत भर के सर्वोत्तम सैर के रास्ते हैं...यह उद्धरण गाइडबुक के हैं तो क्या हुआ? उस सड़क के सौन्दर्य ने तुम्हें अभी ही अभिभूत नहीं कर लिया है तो क्या? तुम बढ़ तो रहे हो उधर को, चढ़ तो रहे हो ऊपर, ऊपर, ऊपर उस छत्र की तरफ़ जहाँ से हिमालय का हृदय दीखता है...

सामने आहट सुनकर आनन्द ने आँख उठाकर देखा, दो गोरे उसी की ओर चले आ रहे थे। उसने अनुभव किया कि अनजाने ही उसकी गति काफी तेज़ हो गई थी। अब उसने गति कुछ और बढ़ाई ताकि इन सैनिकों से आगे निकल आय। गोरों से उसे घृणा है। इन कमबख्तों ने भारत के तमाम सुन्दर स्थलों को कुरूप कर रखा है... जिस पहाड़ी स्थल पर जाओ, इन ललमुँहों की छावनियाँ उसे भद्दा कर रही हैं। अच्छा बहाना है कि ठण्ड इनके स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी है। सहारा के रेगिस्तान में कहाँ की ठण्ड है? वहाँ क्या ये मर जाते हैं? बियर चढ़ाकर सण्डे-से पड़े रहते। और हमने ठेका लिया है कि इनके लिए ठण्डी जगह दें? हर जगह छावनी बनाते हैं और फिर उसका अँग्रेज़ी नाम रखते हैं। डलहौज़ी, लैंसडाउन, कैम्बेलपुर, अटपट-पुर...कितने दुःख और ग्लानि की बात है कि भारत के अधिकांश सुन्दर

स्थलों के नाम विदेशी हों...और तो और, हमारी पवित्रतम चोटी गौरीशंकर का नाम इन्होंने एवरेस्ट कर दिया है क्योंकि गौरीशंकर भारत की ही नहीं, संसार की उच्चतम चोटी थी। पुराणों ने उसे कैलाशधाम कहा तो इन्होंने एक कम ऊँची चोटी को कैलाश नाम से पहचान दिया और नक्शों में लिख दिया। फिर हम लोग कैलाश से उच्चतर गौरीशंकर की बात कहने लगे तो उन्होंने एक दूसरी चोटी को गौरीशंकर बता दिया। फिर हम लोगों ने तिब्बती नाम जाना तो वह भी एक और चोटी पर चस्पाँ कर दिया...अब, मगर हम कोई और भारतीय या कम-से-कम अनांग्लीय नाम सोचेंगे तो उसे भी 'सी१' अथवा 'सी२' अथवा ऐसी ही किसी अब तक अनामा चोटी का नाम बता दिया जायगा चोटियाँ न होंगी तो कथित एवरेस्ट कोई शीशे का पहाड़ तो है नहीं, उसकी ढाल पर पचीसों छुटभैया चट्टानें होंगी...सारांश यह कि गोरों से उसे घृणा है, घोर घृणा है। उनके पीछे या बराबर भी वह नहीं चलना चाहता।

लेकिन अब तक तो उनके पैरों की आहट भी आनन्द के पीछे कहीं मौन हो गई थी। आनन्द उनसे बहुत आगे निकल आया था। सड़क के ऊपर की तरफ़ एक विशालकाय सिन्दूर वृक्ष के नीचे एक लाल टीन की छतवाला बँगला दीख पड़ा, और कुछ आगे बढ़कर उस बँगले से उतरनेवाला रास्ता सड़क में आ मिला। आनन्द को रस्किन का आक्रोश याद आया—जिस तरह के घर इंग्लैंड के समझदार लोग १९ वीं सदी में भी बर्दाश्त नहीं कर सके थे, उसी तरह के घर बीसवीं सदी में भारत पर थोपे जा रहे हैं! आनन्द ने कल्पना करनी चाही कि रस्किन उस समय वहाँ होता तो क्या कहता। लेकिन बँगले के रास्ते से उतरती हुई दो स्त्रियों ने उसकी कल्पना में व्याघात डाला। पाउडर का पलस्तर किये हुए चेहरे, रँगे हुए ओठ,–टीन की लाल रँगी हुई छत–जैसा घर वैसी घरनी...और आनन्द फिर अपनी कल्पना की ओर लौट गया—रस्किन क्या कहता...और कहीं रस्किन नहीं, लारेंस होता, बाँका मुँहफट लारेंस, तो क्या कहता। इन घरों के बारे में—और इन घरनियों के बारे में...कहता कि घरों के पेट में, घरनियों के पेडू में, जीवनशक्ति नहीं, भुस भरा है, भुस...

लेकिन बँगला भी पीछे रह गया। एकाएक आनन्द ने एक काँपते-से सन्नाटे का अनुभव किया। उसने अनुमान किया कि अब वह छत्री बहुत आगे नहीं होगी। आगे देखा, धूप लाल तो नहीं, पर कुछ भूरी-सी अवश्य हो गई थी, कुछ भूरी-सी और अलसाई-सी; और वृक्षों की छायाएँ इतनी लम्बी हो गई थीं कि अपनी ओर के पहाड़ को छोड़कर तलहटी के दूसरे

पार के भृगुओं की छूती सी जान पड़ती थीं। जैसे कोई माता नींद से चौंक-कर अलसाई हुई बाँह बढ़ाकर शिशु को टटोल रही हो, पुनः आश्वस्त हो जाने के लिए...आनन्द ने अनुभव किया कि पवन में एक नई शीतलता आ गई है जो उसके नासापुटों में भर रही है और मानो उन्हें प्रहर्षित कर रही है। उसने चकित हिरन की तरह मुँह उठाकर और नथने फुलाकर हवा सूँघी। उससे मानो उसका जी कुछ हलका हो गया और एक कौतूहल, एक रहस्य-मय प्रतीक्षा-भाव उसके मन में जागृत होने लगा...अब बहुत दूर नहीं हो सकती वह छत्री—इसी अगले मोड़ के आगे ही शायद गाइडबुक में बताई हुई खुली जगह आयेगी और उस फर्लांग भर की हरियाली को लाँघकर दूसरे पार—उस पार...वह पीछे छोड़ आया है शहर को, चौड़ी सड़कों को, सिनेमाघरों को, झाडुओं से उड़ी हुई धूल को, रँगे हुए घरों को, ललमुँहे सैनिकों को, गुलाबी परदों को, रँगी हुई औरतों को, तमाम रँगी हुई क्षुद्रताओं को—बाहर निकल आया है, आगे निकल आया है, द्वार पर खड़ा है मुक्ति के, सौन्दर्य से उर्वर हिम-क्षेत्रों के, निष्ठावान् उन्नत-मस्तक देवदारु वृक्षों के वन के...क्षुद्रता की छूत उससे घुल गई है, एक नये जगत् में वह प्रवेश कर रहा है। जहाँ उसके नये सखा उसे मिलेंगे, जहाँ पर्वतवधुओं के तुषार-किरीट सूर्य के आशीर्वादमय स्पर्श से हेमल हो रहे होंगे, जहाँ उपत्य-काओं में एक अस्पृश्य अलौकिक भव्यता प्रवहमान होगी, जहाँ कुरती के साहसिक आपतन की तन्मयता होगी, जहाँ मुनाल के फैले हुए पंखों का झलमल इन्द्रधनुष होगा, जहाँ भवितव्य की प्रतीक्षा से मुग्ध मुनाली रोमां-चित देह को सम्भालती हुई बाँके प्रणयार्थियों का रंग-ताण्डव देख रही होगी; जहाँ स्वच्छ वायु अपने ही आन्तरिक उल्लास को सँभाल न पाकर झूम उठती होगी, सूर्य अपने दिन-भर के प्राणोन्मेषकारी उद्योग की सफलता देखकर हँस उठता होगा; जहाँ कि रेंगते गिरगिट भी सौन्दर्य के रहस्यमय आवरण में चमक उठते होंगे...

मुक्ति के द्वार पर, जहाँ मानव ईश्वर को प्रतिबिम्बित करता है, जहाँ ईश्वर मानव की शक्ति का प्रक्षेपण हो जाता है, जहाँ ईश्वर और मानव का साक्षात्कार होता है जीवन के अन्तिम चरम एकान्त में—निभृत, अवाक-रहस्यमय, साक्षात् और संगम...किसी चीनी दार्शनिक ने कहा है, 'जब मैं आनन्दित होता हूँ तब मैं मौन होता हूँ. मौन ही आनन्द की परमावस्था है, मौन ही परम सत्य है, मौन ही परम चिन्मयता है...

आनन्द ने वह खुली जगह भी पार कर ली थी—सामने हरे रंग से रँगी होने के कारण नीचे की घास से एक-प्राण छत्री थी, जिसके अन्दर

प्रवृष्ट होने पर सामने की ओर खुल जायगा सौन्दर्य का अन्तिम रहस्य—फट जायगा उसका झीना आवरण...

तब आनन्द की उद्दीप्त चेतना की अवस्था में तीव्र गति से घटनाएँ घटने लगीं।

छत्री के पिछवाड़े के किवाड़ पर खड़िया से बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था—'यहाँ बैठनेवाले की मा की...'

आनन्द किवाड़ खोल चुका था, लेकिन उसका हाथ अवश हो चला—भटकती-सी, अनिश्चय-भरी आँखें छत्री के अन्दर पड़ी हुई बेंच की पीठ की पट्टी पर टिक गईं—बेंच का रुख परली तरफ़ को था, सौन्दर्य के रहस्यागार की तरफ़ को—

आनन्द की अनिश्चित दृष्टि के आगे बेंच की पट्टी पर अधपढ़े हाथ की लिखावट—आनन्द के हत-निश्चय मन में एक प्रश्न कि क्यों मैंने यात्रा के अन्त में उस बात की प्रतीक्षा नहीं की जो यात्रा के साधन रेलगाड़ी के प्रत्येक डिब्बे में मैंने देखी थी, क्यों मुक्ति-कल्पना की उससे जो कि मैं अपने साथ-साथ लेकर आया हूँ—'इस बेंच पर बैठनेवाले की टट्टी की जगह—'' शेष बुझ गया था या मन्द पड़ गया था—या लड़खड़ाकर गिरने-के-से हृत्कम्प से दर्शक की आँखें ही मन्द पड़ गई थीं—

'जब मैं आनन्दित होता हूँ तब मैं मौन होता हूँ'—हाँ, मैं अवाक् होता हूँ, अवाक...निभृत, अवाक्, रहस्यमय साक्षात्कार...मानव का प्रतिबिम्ब ईश्वर, ईश्वर का प्रतिबिम्ब मानव—बन्दों का खुदा, खुदा के बन्दे...

११

जीवन-शक्ति

अक्तूबर १९३७

कलकत्ता, सेण्ट्रल एवेन्यू, गिरीश पार्क से कुछ आगे दक्खिन की ओर सड़क किनारे की चौड़ी पटरी।

बातरा अपनी घुटनों तक ऊँची, कमर के पास फटी हुई और छाती के सिर्फ़ बायें भाग को मुश्किल से ढाँपने में समर्थ मैली धोती का छोर पकड़कर उसे बदन से सटाती हुई चल रही है। वह चलना निरुद्देश्य है, लेकिन रस की अनुपस्थिति के कारण उसे टहलना नहीं कहा जा सकता। वह यों ही वहाँ चल रही है; क्योंकि उसे भूख तो लगी है, लेकिन भीख माँगने का उसका मन नहीं होता है। उसमें आत्माभिमान अभी तक थोड़ा-थोड़ा बाक़ी है, और उसे यह भी दीखता है कि इस इतने बड़े बहुत यथार्थ और बहुत यथार्थवादी शहर कलकत्ते में आकर भी वह यथार्थता को ठीक-ठीक समझ नहीं पाई है, उसके हृदय में कुछ रस की माँग रहती है, जैसे अब वह भूखी भी है तो सिर्फ़ रोटी पाना ही नहीं चाहती, पाने में कुछ मिठास भी चाहती है। भूखे कुत्ते को रोटी मिलती है, तो लार तो उसके मुँह से टपक ही आती है, फिर भी वह (हो सके तो) किसी घर से ख़ास अपने लिए आई हुई रोटी को पसन्द करेगा, गली में माँगने नहीं जायगा...

बातरा संथाल है। बच्ची थी, तभी उसके मा-बाप इधर चले आये थे और ईसाई हो गये थे। पादरी ने ईसाइयत के पानी से लड़की की खोपड़ी सींचते हुए जब उसका नाम बीएट्रिस रख दिया था, तब माता-पिता भी बड़े चाव से उसे 'बातरा! बातरा!' कहकर पुकारने लगे थे।

लेकिन वे मर गये। बातरा ने चाहा, मिशन में जाकर नौकरी कर ले; लेकिन मिशन के भीतर पंजाब से आये हुए ईसाई खानसामों का जो अलग मिशन था, उसकी नौकरी उसे मंजूर न हुई और वह भाग आई।

बातरा जानती थी कि वह कुत्तों से अच्छी है। उसने मेमों के चिकने-चुपड़े मखमल में लिपटे और प्लेट में 'सामन' मच्छी खानेवाले कुत्ते देखे थे; और इस समय अपने बिखरे और उलझे हुए जू-भरे केश, बवाइयोंवाले नंगे पैर, और कलकत्ते की धूप, बारिश और मैल से बिलकुल काला पड़ गया अपना पहले ही से साँवला शरीर, यह सब भी वह देख रही थी; फिर भी वह जानती थी कि वह कुत्तों से अच्छी है। वह चाहती थी, अच्छी तरह साफ़-सुथरे इंसान की तरह जीवन बिताये, चाहती थी कि उसका अपना घर हो, जिसके बाहर गमले में दो फूल लगाये और भीतर पालने में दो छोटे-छोटे बच्चों को झुलाये, और चाहती थी कि कोई और उस पालने के पास खड़ा हुआ करे, जिसके साथ वह उन बच्चों को देखने का सुख और अपने हाथ का सेंका हुआ टुकड़ बाँटकर भोगा करे—कोई और जो उसका अपना हो—वैसे नहीं जैसे मालिक कुत्ते का अपना होता है, वैसे जैसे फूल ख़ुशबू का अपना होता है। अब तक यह सब हुआ नहीं था; लेकिन बातरा जानती थी कि वह होगा, क्यों कि बातरा अभी जवान है, और उस कीच-कादों में पल रही है, जिससे जीवन मिलता है, जीवन-शक्ति मिलती है...

बातरा ऐवन्यू की पटरी पर टहलती जाती है और यह सब सोचती जाती है, और बीच-बीच में सिर उठाकर इधर-उधर आने-जानेवाले लोगों की ओर भी देखती जाती है, आसपास के भिखमंगों-आवारों-बेघरों की ओर भी।

उसकी आँखें एक आदमी की आँखों से मिलती हैं जो उसको जाने कबसे देख रहा है, अटकती हैं, हट जाती हैं और फिर मिल जाती, हैं। अबकी बार उनमें एक उद्दण्डता-सी है, मानो कह रही हों, तुम नहीं हटाते, तो मैं ही क्यों हटाऊँ? मुझे काहे की लज्जा?

वह आदमी मुस्करा देता है, फिर उठकर गिरीश पार्क की ओर चल देता है।

थोड़ी देर बाद बातरा उसी के पीछे चल देती है। वह नहीं जानती कि क्यों उसे इस आधे से अधिक नंगे गठे हुए बदनवाले गन्दे आदमी के बारे में कुतूहल हो आया है।

× × ×

वह गिरीश पार्क की दीवार पर बैठा हुआ आगे जानेवालों से भीख माँग

रहा था। उसे कुछ ख़ास मिलता नहीं था ; लेकिन माँगते वक्त वह एक विचित्र ढंग से मुस्करा देता था, जिसमें कुछ बेबसी थी और कुछ बेशर्मी, और उसने अनुभव से जान लिया था कि विशुद्ध गिड़गिड़ाहट से यह ढंग अधिक फलदायक होता है, क्योंकि गिड़गिड़ाने से करुणा तो जाग उठती है, पर अहंकार झुँझलाता है, लेकिन इस बेशर्मी से अहंकार भी चुप होकर पैसा-दो पैसे कुर्बान कर ही देता है।

बातरा ने पूछा—'ऐसे कुछ मिलता भी है ?'

वह एक हाथ से अपने पेट के पास टटोलते हुए बोला—'तुमको आज कुछ मिला ?'

'मैंने तो छुट्टी कर दी।'

'कुछ खाया ? तुम्हारा नाम क्या है ? कहाँ की हो ?'

'बातरा।' कहकर बातरा चुप हो गई, और उसकी चुप्पी में बाकी दोनों प्रश्नों का उत्तर हो गया।

'मेरा नाम दामू है।' कहकर उसने दूर पर बैठे हुए एक छाबड़ीवाले को बुलाकर कहा—'ओ बे, दो अमरूद दे जा !'

छाबड़ीवाले ने उपेक्षा से कहा—'आव ले जाव।'

'अबे पैसे मिलेंगे, दे जा !'

'वाह रे तेरे नख़रे, भिखमंगे !' कहता हुआ छाबड़ीवाला मुस्कराता हुआ उठा और दो अमरूद दे गया और पैसे ले गया।

'खा।' कहकर दामू ने बड़ा अमरूद बातरा को दिया और दूसरा स्वयं खाने लगा।

बातरा भी खाने लगी। और ज्यों-ज्यों वह खाती जाती थी, उसके भीतर जीवन-शक्ति जाग्रत होती जाती थी...

(२)

बातरा के अठारह सालों की संचित लालसा ने मानो एक आधार पाया। गिरीश पार्क में कुछ आगे एक छोटा किन्तु घना अशोक का पेड़ था, उसी के नीचे उसने अपना करीब-करीब स्थायी अड्डा जमा लिया और उसी पेड़ के नीचे दूसरी तरफ दामू ने अपना अँगोछा डालकर माँगने की और रहने की जगह बना ली। किसी दिन वह भीख माँगता, यदि कभी चार पैसे मिल जाते, तो उसके अमरूद खरीदकर अपने अँगोछे पर सजाकर दूकान कर लेता।

आस-पास के दूकानदार जो उससे परिचित थे,—मज़ाक बनाते, लेकिन फिर अमरूद महँगे दामों खरीद भी लेते। इसी प्रकार कभी दिन में चार-छः

पैसों का नफ़ा हो जाता, तो दामू बातरा के लिए तरबूज की एक फाँक ख़रीद लेता; या पकौड़ियाँ ले आता और उसे कहता--'देख, आज तू किसी से मत माँगना।'

वह हँसकर कहती--'और कोई दे जाय तो?'

'तो कहना, ले जा, हम कोई भिखमंगे हैं?'

और दोनों हँस पड़ते।

लेकिन इस लापरवाही से और कभी दैवात् बिक्री न होने से उसकी शाम इतनी सुखद न होती और बातरा थके हुए स्वर में कहती, 'भूख लग आई'...तब दामू एकाएक दूकान उठा देता और दोनों जने फल बाँटकर खा जाते। अगले दिन सवेरे ही दामू कहीं चल देता, गली गली में भटककर और कचरा-पेटियाँ देखकर पुराने टीन, बोतलें, टूटे पुर्जे बटोरकर लाता और एक कबाड़िये के पास दो-तीन पैसे में बेच लेता...

एक दिन से दूसरा दिन तो हो जाता, लेकिन कुछ जुटने की नौबत न आती और बातरा की संचित लालसा उस कभी न फूलनेवाले अशोक के आस पास चक्कर काटकर रह जाती...लेकिन जैसे उसने हारना सीखा ही नहीं था, लालसा को कम उग्र करना भी नहीं सीखा था।

साल-भर होने को आया। गर्मियाँ फिर चुक चलीं, आकाश में बादल घिरने लगे। वे आते, घिरकर बिना बरसे ही फिर बिखर जाते और बातरा को लगता, दुनिया ग़लत हो गई है। वह अशोक के दूसरी ओर बैठे हुए दामू की ओर देखती और न जाने क्यों उसका हृदय उमड़ आता, उसमें खलबली-सी मच जाती, उसकी आँखों को धुँधला-सा कुहरा-सा दीखने लगता और उन दोनों के बीच में खड़ा वह अशोक वृक्ष का तना उसकी दृष्टि में काँप-सा उठता...वह आकाश की ओर मुँह उठाकर कहती--'अब तो बारिश होनी ही चाहिए!' और दामू भी आकाश की ओर देखता हुआ ही उत्तर देता--'हाँ, अब तो मेरा जी भी तरस गया।'

बातरा का हृदय मानो उछल पड़ता, और वह जैसे पूछने को हो उठती--'किस चीज़ के लिए तरस गया है?' पर साहस न होता और दिल फिर बैठ जाता...

और आस-पास के लोग भी देखने लगे कि उस अशोक-वृक्ष के नीचे कुछ बदल गया है। वे लोग बीच-बीच में कभी एक तीखी दृष्टि से बातरा की ओर देखते, उस दृष्टि में थोड़ा-सा तिरस्कार, थोड़ा-सा उपहास और थोड़ी-सी लोलुप-सी प्रशंसा भी होती। बातरा उस दृष्टि को देखती, तो सिमट-सी जाकर अपने से पूछ उठती, 'क्या मेरी सूरत अच्छी है?' फिर

उसका ध्यान अपने साँवले बदन की ओर अपने सूखे बालों की ओर जाता और प्रश्न मानो मूक होकर बैठ जाता।

(३)

'आज तो होकर रहेगी।'

दामू ने बातरा की ओर देखा, फिर उसकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए आकाश की ओर, और बैठते हुए बोला—'हाँ लो, यह लाया हूँ।'

रात को बातरा ने गली में कचरा-पेटी के पीछे छिपकर यह दूसरी धोती लपेटी, जो पुरानी और कुछ मैली तो थी, पर फटी कहीं से नहीं थी और मोटी भी खूब थी। अपनी जगह लौटकर उसने पुरानी धोती नीचे बिछाई, कुछ दिन पहले लाये गये बोरिये के टुकड़े को ऊपर ओढ़ने के लिए रखा और पेड़ की आड़ से दामू की ओर देखने लगी।

रात को बारिश शुरू हुई। लेकिन बातरा को लगा कि वह जैसे भीग ही नहीं रही है, उस बोरिये के टुकड़े से इतना काफ़ी बचाव हो रहा था। लेकिन हवा के झोंकों से जब वह बोरिया बार-बार उड़ने लगा और साथ ही धोती को भी उड़ाने लगा, तब बातरा पेड़ की आड़ लेने के लिए बिलकुल उसके तने से सट गई।

दूसरी ओर सटे हुए दामू ने पूछा—'क्यों, भीग रही हो ?' और बोरिये का छोर पकड़कर बातरा के बदन के नीचे दाब दिया।

तब आधी रात थी। वक्त वैसे बहुत नहीं हुआ था, फिर भी बारिश की वजह से एवेन्यू सुनसान पड़ा था। बिजली की गड़गड़ाहट सभ्यता की नीरवता को और भी स्पष्ट कर रही थी। बातरा को लगा, वह अकेली है, और उसे कुछ ठण्ड-सी भी लगी। उसने पेड़ के और निकट सिमटते हुए कहा, 'नहीं...'

दामू ने उसकी ओर हाथ बढ़ाकर बाल छूते हुए कहा—'भीग तो गई...

बातरा के भीतर उसका एकान्त सहसा उमड़-उमड़ आया, उसकी पुरानी लालसा तड़प उठी...दामू का कोमल स्वर सुनकर उसके भीतर न-जाने क्या हुआ, वह एकाएक हतप्रभ, शून्य-सी होकर अपने ऊपर छाये और कभी-कभी चमक जानेवाले अशोक के गीले पत्तों की ओर देखने लगी...

दामू ने फिर बुलाया—'क्या हुआ, बातरा ?'

'कुछ नहीं।'

'कुछ कैसे नहीं ? बताओ न ? कोई तकलीफ़ है ?'

बातरा से सहा नहीं गया। उसका बदन जैसे एकदम तप उठा। वह

उठकर बैठ गई, बोरिया उसने उतार फेंका, अशोक के तने की छाल में एक हाथ के नाखून जोर से गड़ाकर, आँखें फाड़कर सड़क की धुली हुई कालिख की ओर देखने लगी···

दामू ने उसका हाथ धीरे-धीरे पेड़ से अलग करके अपने दोनों हाथों में में ले लिया। बातरा ने छुड़ाया नहीं—उसे जैसे पता नहीं था कि वह कहाँ है···

दामू ने पुकारा—'बातरा !'

वह चौंकी। उसने दामू का हाथ झटक दिया, पेड़ से कुछ हटकर बैठ गई। बोली—'मुझे मत बुलाओ !'

'क्यों ?' अचंभे के स्वर में पूछता हुआ दामू उठा और पेड़ के इधर बैठ गया।

'मुझे मा की याद आ गई—वह ऐसे बुलाती थी—कहकर बातरा एकाएक रो उठी और थोड़ी देर में उसकी हिचकी बँध गई···

दामू ने कहा—'लेट जाओ।' वह बिना विरोध किये लेट गई। दामू उसका सिर थपकने लगा और वह सो गई।

सबेरा होने को हुआ, तब भी अभी दामू वहीं बैठा था। बातरा एकदम हड़बड़ाकर उठी और बोली—'अरे—'

दामू ने जल्दी से टोकते हुए पूछा—'क्यों, फिर मा याद आई ?'

बातरा को अपनी रात में कही हुई बात याद आ गई। वह झूठ नहीं बोली थी ; लेकिन अब उसे लगा कि वह सच नहीं था ...

उसने दामू से कहा—'तुम सोये नहीं ? जाओ सोओ।'

लेकिन दामू पेड़ के दूसरी तरफ़ नहीं लौटा। उसे लगा कि पेड़ के एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ आने का पड़ाव डेढ़ वर्ष में तय कर पाया है, तो एक बार कहने से नहीं लौटेगा।

और एक बार से अधिक बातरा ने कहा भी नहीं। आस-पास के दूकानदारों ने यह नई व्यवस्था देखी, तो एक दूसरे को बुलाकर इन पर फबतियाँ कसने लगे ; एक ने सुनाकर कहा—'आख़िर खुल ही गई हकीकत राँड़ की !' लेकिन बातरा ने जब उद्दण्ड रोष से कहा—'चुप रहो, लाला !' तब वह बीभत्स हँसी हँसकर चुप हो गया।

और बातरा को पैसे अधिक मिलने लगे। लोगों के भीतर छिपा हुआ शैतान जब समझता है कि दूसरों के भीतर भी शैतान बसा है, तब अपनी उस कल्पित मूर्ति को सिर झुकाये बिना नहीं रहता, फिर बाहर से चाहे जो कहे !

और बातरा के भीतर जीवन-शक्ति उमड़ने लगी, उसकी वह उत्कण्ठा घनी होने लगी—कभी-कभी रात में वह न जाने कैसा स्वप्न देखकर चौंक उठती और अपना भीगा हुआ सिर दामू के कन्धे में छिपाकर अपना बोरिये का टुकड़ा कुछ दामू के ऊपर भी खींचकर ज़रा-सा काँपकर फिर सो जाती…

(४)

सर्दियाँ आईं, तो बातरा के ऊपर एक जेल से नीलाम हुए काले कम्बल का आधा हिस्सा था, दामू के सिर पर एक पुरानी खाकी पगड़ी। और जब वसन्त के दिनों एक शाम को गिरीश पार्क के पिछवाड़े से मधुमालती की एक बेल में से कुछ फूल तोड़कर उन्हें दामू के पास डालते हुए बातरा ने अपनी पीड़ा को दबाते हुए लज्जित स्वर में कहा था—'मैं अभी आती हूँ, तुम यहीं रहना।' और एक ओर को चल दी थी, तब अशोक के पेड़ के नीचे एक आलमोनियम का गिलास पड़ा था, एक लिपटी हुई छोटी चटाई, एक टूटी कंघी, एक पीतल की डिबिया, और पेड़ की शाख में एक पीले कपड़े की पोटली भी टँगी हुई थी। बातरा जब इन दो बरसों में इकट्ठी हुई चीज़ों को देखती थी, तब उसका जी भर आता था, उसे लगता था कि उसकी लालसा अब फलने के निकट है, क्योंकि अब तो—अब तो…और वह लज्जा में सिमट जाती थी, चोरी से दामू की तरफ़ देखती थी कि कहीं उसने यह देख तो नहीं लिया, उसके स्वप्न पढ़ तो नहीं लिये ..

तो उस दिन साँझ को वह दामू को मधुमालती के फूल देकर चल दी, और रात नहीं लौटी। दामू को प्रतीक्षा में बैठे-बैठे भोर हो आया, तब वह आई, अपनी लालसा के स्वर्ग की एक और सीढ़ी चढ़कर—गोद में एक गूदड़ी में लिपटा हुआ शिशु लिये हुए। दामू ने उसके पीले मुँह की ओर देखा, फिर उसकी एक विचित्र स्निग्ध प्रकाश से भरी हुई आँखों की ओर, और मौन स्वीकृति में सब-कुछ अपनाकर कहा—'अरे, हम तो कुनबा हो गये!'

कितना मधुर था वह एक शब्द 'कुनबा'—एक सिहरन-सी बातरा के शरीर में दौड़ गई। वह खड़ी न रह सकी, धम से बैठ गई--

दामू ने कहा—'अब धूप तो नहीं लगा करेगी?'

धीरे-धीरे टीन की चादर का एक टुकड़ा आया जो पेड़ के साथ बँध गया और छतरी का काम देने लगा, फिर एक बहुत छोटी-सी खाट जिसकी रस्सियाँ धुँएँ से काली पड़ी हुई थीं और जिस पर बातरा के बहुत सम्हलकर बैठने पर भी रोज़ एक-न-एक रस्सी टूट ही जाती थी, फिर एक छाबड़ी जिसमें

चकोतरे की फांकें और पान के बीड़े तक सजने लगे। कभी-कभी कोई आकर दामू के पास बैठता, तो एक बोतल सोडे की भी आ जाती...

बातरा अपने सब ओर फैलते हुए परिग्रह की ओर देखती, फिर ऊपर टीन की छत की ओर और फिर अनदेखनी-सी दृष्टि से दूर की उस मधु-मालता लता के फूलों की ओर देखकर सोचती, कभी गमले भी आ जायँगे—मेरे फूल...

फिर बरसात आई, तब बच्चे ने चिल्ला-चिल्लाकर नाक में दम कर दिया। तब अशोक की शाख में एक पालना भी बँधा और टीन की छत के साथ बाँधकर बोरिये के टुकड़े आड़ के लिए लटक गये।

एक आदमी के भीतर जो शैतान होता है, वह तब तक दूसरे आदमी के भीतर के शैतान का पक्ष लेता है, जब तक कि उसका स्वार्थ न बिगड़े। पास-पड़ोस के दूकानदार दामू को बदमाश और बातरा को राँड से कम कभी कुछ नहीं कहते थे, फिर भी उनके प्रति काफ़ी सहनशील रहते थे, अपने गन्दे मज़ाक के भाईचारे में उन्हें खींच लिया करते थे। लेकिन अब पेड़ के बने इस घोंसले को देखकर कुछ को लगा कि उनकी दूकान के आगे की जगह घिर रही है और ग्राहक की दृष्टि से वह छिप गई है। दामू और बातरा के प्रति उनकी उदारता मिटने लगी, और अब उन्हें यह सोचकर दुगुना क्रोध आने लगा कि इस परिवार पर उन्होंने इतनी मेहरबानी क्यों दिखाई...

लेकिन दिन बीतते गये और बातरा स्वप्न देखती आई...उसके भीतर जो शक्ति थी, जिसने हारना नहीं जाना था, आगे देखना ही जाना था, वह भोजन पाकर बढ़ने लगी।

(५)

और फिर सर्दियाँ आईं, फिर ग्रीष्म। फिर बारिश हुई, ख़ूब हुई और चुक चली। शरद के मधुर दिन आये, दीवाली के आलोक से कलकत्ता जग-मगा उठा, उस बोरिये से घिरे हुए और टीन से छाये हुए थोड़े-से स्थान में भी दो मोमबत्तियों के आलोक ने काँपकर कहा,—अरे, मुझे इससे अधिक आड़ नहीं मिलेगी? और निराश होकर बुझ गया; फिर धीरे-धीरे ठण्ड बढ़ने लगी और रातों में ओस पड़ने लगी...दिन अच्छे थे; बातरा को कभी बचपन में देखे हुए अपने ऊबड़खाबड़ प्यारे देश की याद आ जाती; लेकिन वह कुछ अस्वस्थ रहने लगी। उसकी आँखें भर-भर-सी आतीं और दूर कहीं के ध्यान में—अनुभूति में—खो जातीं; कभी उसे लगता, उसके भीतर न-जाने क्या काँप-सा रहा है, कभी उसका जी मिचला उठता, उसे लगता कि

उसका शरीर एकदम से शिथिल हो गया है, टाँगें भारी होकर निकम्मी हो गई हैं। वह घबराकर बैठ जाती...तब एक दिन एकाएक वह जान गई कि उसे क्या हुआ है, और लज्जा से भरकर उसने दामू से कहा,—'मैं भीतर ही रहूँगी—' दामू पहले समझा नहीं, फिर गंभीर हो गया, फिर कुछ चिन्तित-सा होकर बातरा के कन्धे पर हाथ रखकर थोड़ी देर खड़ा रहा, और तब बाहर चला गया...

महीने भर के अन्दर ही बातरा ने देखा, उस अशोक के नीचे बँधे हुए टीन के चारों ओर बोरिये की बजाय टीन की चादरें लग गई हैं, जिसे उसका छोटा-सा बच्चा हाथ से पकड़कर हिलाता है, और खनखन ध्वनि होने पर जरा रुककर माँ की ओर देखता हुआ अपनी चालाक आँखों से मुस्करा देता है। बातरा कहती है, 'चल, बदमाश!' तब खिलखिलाकर हँस पड़ता है।

जिस दिन सामने की ओर टीन की कटी हुई चादर बांधकर बन्द हो सकनेवाला किवाड़ बन गया, उस दिन भीतर आकर दामू ने झूठमूठ की कठोरता से कहा, 'अब तो झूठ बालकर नहीं भागेगी, बाती?'

बातरा कुछ बोल न सकी। उसकी आँखें, उसका हृदय, उसका मन एकाएक उस स्वप्न से पुलक उठा—दो बच्चे, दो गमले, दो-एक फूल, और—और...

(६)

लेकिन सबेरे पिछवाड़े के दूकानदार ने कहा—'क्यों बे दामू के बच्चे, यहाँ हवेली खड़ी करेगा क्या!'

दामू ने कहा—'लाला, हमें भी तो रहने को जगह चाहिए ;तुम तो—'

'एँहें! बड़ा आया घर में रहनेवाला! और जब यहीं नंगा पड़ा रहता था और कुत्ते बदन चाटते थे तब!' फिर तीखे वीभत्स व्यंग्य से, 'अब वह आ गई है न लुगाई, तभी तो घर चाहिए उसके—'

दामू ने उद्धत होकर कहा—'लाला,आबरू रखनी है, तो जबान सम्हालकर बात कहो।'

लाला चुप हो गया। पर शाम को कारपोरेशन के इन्सपेक्टर ने आकर अपनी छड़ी बातरा की पीठ में गड़ाते हुए कर्कश स्वर में पूछा,—'क्यों री यह सब क्या है?'

बातरा लेटी थी। दामू कहीं गया हुआ था। उठकर बच्चे को गोद से उतारती हुई बोली—'क्यों? मेरा घर।'

'तेरे बाप की ख़रीदी हुई जमीन थी, जो घर बनाया? बनी है, नवाब-

जादी ! टके-टके के लिए गलियों में ऐसी-तैसी कराती है, यहाँ सेन्ट्रल एवेन्यू पर घर चाहिए ?'

बरस भर से बातरा ने किसी को गाली नहीं दी थी, न दूकानदारों के तकिया कलाम 'राँड' शब्द के अतिरिक्त कोई गाली सुनी ही थी। अब इन्स-पेक्टर के मुँह से यह पुण्यसलिला फूटती देखकर वह एकाएक कुछ कह न सकी, उससे हुआ तो सिर्फ इतना कि उसने खींचकर एक थप्पड़ इन्सपेक्टर के मुँह पर मार दिया !

इन्सपेक्टर एक क्षण भौंचक रह गया, फिर उसने अपनी छड़ी से बातरा की छाती में, कमर में, टाँगो में प्रहार करना आरंभ किया और जबान से इन्सपेक्शन के दौरे करते-करते दिमाग़ में भरकर सड़ांध पैदा करती हुई तमाम कलकत्ते की गन्दगी उगलने लगा। और आख़िर में बच्चे को एक ठोकर मारकर आगे बढ़ा और पुकारने लगा— पुलिस ! पलिस !'

पुलिस आई। बातरा के हथकड़ी लग गई। सहमे हुए बच्चे को अपनी नंगी छाती से चिपटाये उसने देखा, उसकी पोटली, चटाई, चारपाई, गिलास, सब पुलिस ने ज़ब्त कर लिये, और उसकी स्थिर अनझिप आँखों के आगे टीन की चादरें भी उतर गईं और अशोक का पेड़ वैसा ही नंगा हो गया, जैसा तीन वर्ष पहले था—नशे-से में ही बातरा घिसटती हुई थाने की ओर चली, उसे होश तब तक नहीं आया, जब कि हिरासत में बन्द होकर वह बच्चे को नीचे बिठाने लगी— तब उसने देखा कि बच्चे की गर्दन एक ओर लटक रही है और मुँह से राल में मिला हुआ खून बह रहा है।

सिपाही ने आकर उसकी फटी धोती का छोर खींचते हुए कहा—'इसे निकालो, तलाशी ली जायगी।' लेकिन बातरा को होश नहीं था। सिपाही उसका बहुत बढ़ा हुआ और कुरूप पेट देखकर धोती वहीं फेंककर झेंपा हुआ-सा बाहर निकल गया है, यह भी उसे नहीं मालूम हुआ; बाहर दो-तीन कान्स्टेबलों की वीभत्स हँसी भी उसने नहीं सुनी। उसने यन्त्रवत् धोती में बच्चे को लपेटा, उसे गोद में लेकर धोती के छोर से उसका मुँह पोंछा, फिर उठकर कोठरी के कोने के अँधेरे में सिमटकर बैठ गई।

सबेरे चार बजे उसे कोठरी से निकाल दिया गया। बच्चा उसे नहीं दिया गया—साधनहीन लोगों के मुर्दे जलाने का पुण्यकार्य कारपोरेशन कर देता है।

(७)

गिरीश पार्क से पूर्व की ओर मुड़कर विवेकानन्द रोड पर एक कोयले

की दूकान के हाते को घेरनेवाली टीन की चादरों की दीवार की आड़ में दामू और बातरा।

दामू कुछ पुराने अख़बारों के गट्ठर में से अख़बार निकालकर एक के ऊपर एक बिछाता जा रहा है कि बैठने लायक जगह बन जाय; बातरा टीन की चादर को सम्हालनेवाले खम्भों के सहारे खड़ी प्रतीक्षा कर रही है। मदद उससे की नहीं जाती, उसकी टाँगें काँप रही हैं। वह फटी-फटी-सी, दृष्टिहीन-सी आँखों से बिछते हुए काग़ज़ों की ओर देखती जाती है, ऐसे मानो आँखें बाहर की ओर नहीं, भीतर की ओर देख रही हों, जहाँ उसमें दुर्बल, असहाय, लेकिन नया जीवन छटपटा रहा है; जहाँ एक अदम्य जीवन-शक्ति नींद में भी तड़प उठती है अकथनीय सपने देखकर—दरवाज़े के आगे दो छोटे-छोटे फूल भरे गमले, भीतर पालने में दो छोटे-छोटे बच्चे, और बातरा के पास एक और—कोई एक और...

चिड़ियाघर

अक्तूबर १९३७

रमा ने तिनककर कहा—'हाँ, और तुम्हें क्या सूझेगा। कालेज से छुट्टी हुई, आये फैलकर पड़ रहे। न हुई छुट्टी, तो शाम को सिनेमा जाकर ऊँघ लिया। फिर जब मैं कह दूँगी कि मर्द तो शादी इसी लिए करते हैं कि रसोइया-कहारिन को तनख्वाह न देनी पड़े, तो कहेंगे अन्याय करती हो। मैं कहती हूँ, राजे क्या रोज-रोज मरते हैं? आज सोचा कि छुट्टी हुई है, तो चलो कहीं घूम आयें, लेकिन इन्हें क्या घूमने से—वह भी मेरे साथ! ये तो लेटके हुक्का गुड़गुड़ायें। हाँ, होती कोई मेम साहब—

मैंने बात खत्म करने के लिए कहा—'अच्छा भाई, चले चलते हैं। लेकिन तुम कपड़े तो पहनो, मैं भी ज़रा पाँच मिनट सिगार पी लूँ।'

सिगार के नाम से रमा फिर भड़क उठी, लेकिन मैंने उसके कुछ कहने से पहले ही जोड़ दिया—'वह पीली साड़ी पहनना—काले किनारेवाली। तुम तो कभी अच्छा कपड़ा पहनती ही नहीं अब—'

रमा ने भीतर-भीतर पिघलकर, लेकिन बाहर से और कठोर बनकर कहा—'तुम लाके भी दो कभी कुछ!' और चली गई। मैंने सन्तोष की एक लंबी साँस ली और आरामकुर्सी पर टाँग फैलाकर लेट गया।

बात यह थी कि उस दिन अपने राजा साहब के ससुर—के राजा की मृत्यु के कारण कालेज बन्द हो गया था और मैं लौट आया था। मन में आई, घर चलकर पड़े-पड़े ऊँघा जाय। ऐसा मौक़ा भी कब मिलता है। इतवार को छुट्टी होती है, तो पढ़ाई के नोट रगड़ते-रगड़ते नष्ट हो जाती है!

लेकिन श्रीमती को यह कब मंजूर ? उनका आग्रह हमेशा यही रहता है, चलो घूमने चलें। सुबह हो, शाम हो, दुपहर हो, गर्मी हो, बारिश हो, उन्हें एक ही धुन रहती है—घूमने चलो। और घूमने भी कहाँ ? बाग़ नहीं, नदी पर नहीं, शहर में नहीं—चलो चिड़ियाघर ! लड़ने लगेगी, तो बप्पा रावल भी सामना नहीं कर सकेंगे, लेकिन 'टेस्ट' बिल्कुल बच्चों का-सा ! मुझे चिड़ियाघर के नाम से चिढ़ है। आज तक कभी रमा की बात मानी नहीं है मैंने, सो इसी लिए। चिड़ियाघर भी कोई देखने की चीज़ है ? दुर्गन्ध से नाक सड़ती है।

आज भी मुझे उम्मीद थी, वह कहेगी, चलो चिड़ियाघर देख आयें। उसने नहीं कहा। तभी मैंने घूमने चलना स्वीकार कर लिया, यद्यपि मुझे निश्चय नहीं था कि अब भी वह रास्ते में नहीं कह बैठेगी कि चलो उधर चलें और हाथ पकड़कर घसीट न ले चलेगी !

मैं आरामकुर्सी में पड़ा सिगार के कश खींचने लगा। सिगार बढ़िया थे—यद्यपि अबकी बार रमा ख़रीदकर लाई थी—इस महीने से घर का ख़र्च चलाने का जिम्मा उसने लिया था और शर्त थी कि मुझसे अच्छा चलायेगी और किफ़ायत से।

मैं ऊँघने लगा। रमा से हारना भी कुछ मीठा-मीठा-सा लगने लगा।

× × ×

रमा ने आकर कहा—'चलो, चलो, चलो—'

मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा।

'कहाँ चलें ?'

'चिड़ियाघर, और कहाँ। जाने कब से कह रही हूँ।' कहकर रमा मेरी ओर देखकर मुस्कराई। हौआ ने जब आदम को वह वर्जित फल खाने को कहा होगा, तब वह भी ऐसे मुस्कराई होगी—और हौआ के पास वह काले बार्डरवाली पीली साड़ी भी नहीं थी...

मैंने एक लंबी साँस लेकर कहा—'चलो।'

बाहर बादल छाये थे। हवा चल रही थी। मौसम अच्छा था। हम लोग ताँगे में बैठकर चिड़ियाघर पहुँचे। रमा ने बटुआ खोलकर चार आने की मूँगफली और चने लिये और बोली—'जानवरों को खिलायेंगे।'

मैं मुस्करा दिया और आगे बढ़े।

'इधर नहीं बाबू, इधर !' मेरे कन्धे के बिल्कुल पास किसी ने कहा। मैंने घूमकर देखा, एक दढ़ियल बुड्ढा खाकी कपड़े पहने खड़ा था और मुझे कह रहा था, 'इधर नहीं बाबू, इधर !'

मैंने पूछा—'तुम कौन हो ?'

'मैं गाइड हूँ। मेरे साथ आइए, मैं दिखाऊँगा।' और वह आगे चल पड़ा। हम भी कुछ अनिच्छा से पीछे हो लिये—मैं चाहता था कि मेरे साथ सिर्फ रमा ही हो...

मैंने कहा—'चिड़ियाघर में गाइड ! आज तक तो सुना नहीं—'

उसने बात काटकर कहा—'मैं चिड़ियाघर की एक-एक बात जानता हूँ। आपको वह हाल सुनाऊँगा कि फिर कभी चिड़ियाघर देखने की जरूरत ही नहीं पड़ेगी।' कहकर उसने बड़ी तीखी दृष्टि से रमा की ओर देखकर मुस्करा दिया।

मैंने मन ही मन हँसकर कहा—बुड्ढा बड़ा घाघ है।'

और उसने मानो मेरे विचार पढ़कर स्वर मिलाकर कहा—'हाँ, समझ लीजिए कि मैं चिड़ियाघर की आत्मा हूँ।'

बन्दर

'ये आप देखते हैं ?'

दो कठघरों में बन्दर बन्द थे। पाँच-छः तरह के एक में, वही पाँच-छः तरह के दूसरे में। कुछ नीचे रेत में, कुछ बीच में गड़ी हुई पानी की नांद के किनारे, और कुछ दोनों कठघरों के बीच के जंगले से सटकर बैठे थे। अधिकांश ऊपर आकाश की ओर देख रहे थे।

रमा ने मूँगफली फेंकी। दो-एक ने सुस्त चाल से आकर उठाईं, तब मैंने देखा कि अधिकांश बन्दरों के शरीर पर खुजली हो रही है, कइयों के बाल झड़ गये हैं, और कुछ ने बदन छील-छीलकर घाव कर लिये हैं। एकाएक ग्लानि से भरकर मैंने कहा—'चलो, चलें !'

गाइड ने कहा—'देख लिया आपने ? अब मैं दिखाऊँ। आपने पहचाना, दो कठघरों के बन्दरों में कुछ फर्क है ! एक में नर हैं, एक में मादा। ये हिमालय के बन्दर हैं, यहाँ की गर्मी में इनका रहना मुश्किल है। लेकिन ज्ञान के लिए वह कष्ट जरूरी है। आदमी के ज्ञान के लिए जानवरों का सुख क्या चीज है ? यहाँ सबको खुजली हो गई और जो बच्चे पैदा हुए, वे और भी रोगी हुए। रेत में पड़े वे शून्य आँखों से बाहर देखा करते थे उस पीपल की छाँह की ओर। उनके शरीर से निकली हुई पीब से यह जगह सड़ रही थी। एक दिन राजा साहब आये, उन्हें चिड़ियाघर के साहब ने कहा कि इन बच्चों को गोली मार देनी चाहिए। लेकिन राजा साहब को यह हिंसा नहीं जँची, उन्होंने व्यवस्था की कि अब इनके बच्चे नहीं होने

दिये जायँ, और हर साल दो नये बन्दर ख़रीदकर यहाँ रखे जायँ ताकि प्रदर्शन ठीक रहे। तभी से नर और मादा अलग कठघरों में रखे जाते हैं। देखिए -'

मैं स्थिर दृष्टि से बन्दरों की ओर देख रहा था। जो बीच के जँगले के पास बैठे थे, उनकी निश्चेष्टता, मूँगफली के प्रति उनकी उपेक्षा, एक बड़ी भारी और बड़ी भयङ्कर बात बनकर मेरे मन में समा रही थी...

रमा ने मेरी कोहनी पकड़कर कहा—'आगे चलो।'

एकाएक जी चाह उठा, रमा के उस स्पर्श को कोहनी के दबाव से बांध लूँ, अलग न होने दूँ, और वहाँ से भाग जाऊँ ..मैंने कहा—'चलो, चलो!' पर मुग्ध दृष्टि बन्दरों से नहीं हटी, जब तक कि बुड्ढे ने नहीं कहा—'अभी बहुत देखना है आपको!'

हाथी

रमा बोली—'अरे, चिड़ियाघर में हाथी भी रखा है।'

मैंने कहा—'हाँ, इधर हाथी भी एक अजीब चीज़ है न—'

गाइड बीच में बात काटकर कहने लगा—'यह हाथी हाथियों में भी अजीब है। इसका एक इतिहास है। यह पहले राजा साहब के निजी फीलख़ाने का सबसे तगड़ा हाथी था। साल में दो बार जब दङ्गल होता था, तब राजा साहब इसे लड़ाया करते थे। बाहर भी लड़ने भेजते थे। लेकिन बहुत ज़्यादा लड़ने से खोपड़ी पर ज़ोर पड़ा और दोनों आँखें अन्धी हो गईं; तब राजा साहब ने पांच सौ रुपये में स्टेट को बेच दिया और चिड़ियाघर में रख दिया। अब इसके हिलते हुए सिर, लटके हुए दाँत और झुर्रियाँ पड़े शरीर को देखकर आप अन्दाज़ भी नहीं लगा सकते कि यह कैसा यमदूत रहा होगा; लेकिन देखिए—' कहकर उसने हाथी के पेट के पास लटकती हुई चमड़ी को पकड़कर कहा—'यह देखिए; फुट-फुट-भर लटक रही है अब! इसमें अगर मांस और पुट्ठे होते, तब—'

मैंने समर्थन करते हुए कहा—'हाँ, वाकई, है हाथी ही।'

'अब इसे चौथाई खूराक पर रखा गया है। ख़र्च बहुत होता है न! साहब ने इसे भी गोली मरवा देने की राय दी थी, और राजा साहब ने पुछवाया भी था कि दाँत और हड्डी बेचकर क्या आमदनी होगी। लेकिन मालूम हुआ कि कोई ख़ास फ़ायदा नहीं होगा, और यह भी कहा गया कि यह राजा साहब की शान के ख़िलाफ़ होगा। लोग कहेंगे कि सारी उम्र तो बेचारे को लड़वाते रहे और बूढ़ा हो गया तो थोड़े से चारे के लोभ में गोली मरवा

दी। इन दोनों बातों पर ध्यान रखकर राजा साहब ने धर्म का विचार करके यह तजवीज नामंजूर कर दी।'

रमा ने मुट्ठी-भर मूँगफली बढ़ाई। हाथी शायद गन्ध से पहचान गया कि खाने को कुछ दिया जा रहा है, लेकिन सूँड़ से टटोलकर भी नहीं पहुँच सका। तब एकाएक उसने सूँड़ लटका दी और बहती हुई कीचड़वाली आँखें शून्य पर जमाकर रह गया, मानो कह रहा हो—भूखे तो मरना है; तब यह खाई तो क्या, न खाई तो क्या...

मेरे मन में अपने पूर्ववर्ती प्रोफेसर डाक्टर कृष्ण का चित्र घूम गया, जो बीमार हो जाने के कारण छुट्टी न पा सके थे और डिसमिस कर दिये गये थे...वह भी ऐसा ही बांका जवान था, लेकिन जब उसने मुझे कहा था, मेरा कुछ भरोसा नहीं है, बीमे की रकम वसूल करने में उसकी (स्त्री की) मदद करना, रियासत की कंपनी है...' और चुप होकर मेरी ओर देख दिया था, तब...

मैंने रमा से कहा—'तुमने क्या हाथी भी नहीं देखा?' और बाँह पकड़कर आगे खींच ले चला।

तोते

गाइड बोला—'पहले इधर।'

मैंने कहा—'दिखाने का कुछ तरीका भी है? हाथी के बाद तोते—'

वह बोला—'मेरा तरीका आप अभी नहीं समझते। मैं किताबी कीड़ा तो हूँ नहीं। मैं आपको चिड़ियाघर के जानवर नहीं, उसकी आत्मा दिखा रहा हूँ। उस आत्मा का विकास ही आप मेरी कहानी में पायेंगे।'

बुड्ढे में कुछ अजीब प्रभावशालिता थी। हम पीछे हो लिये।

तोते ऊँघ रहे थे। गाइड ने चुटकी बजाकर उन्हें जगाया, रमा बुलाने लगी, मिट्ठू, मियाँ मिट्ठू!'

तोते रमा की तरफ देखते रहे। रमा ने दाने भीतर डाल दिये, पर तोते वहीं बैठे रहे; एक ने चिड़चिड़े-से स्वर में कहा—'टेऊँ!' मानो वह जतला रहा हो कि तुम अपना काम कर चुके, अब जाओ, खा लेंगे!

गाइड बोला—'ये तोते अब प्रातःकाल या सायङ्काल को ही बोलते हैं। जब पहले-पहल ये चिड़ियाघर के लिए ख़रीदे गये तब ख़ूब बोलते थे। लेकिन ख़रीदकर भीतर रखे जाते ही वे चुप हो गये, हिलाने-डुलाने, बुलाने-पुचकारने और भूखे रखने तक का कोई असर नहीं हुआ; तब राजा साहब ने उस सौदागर को बुलाया जिससे तोते ख़रीदे गये थे और जवाब तलब

किया। सौदागर ने जगह देख-भालकर निवेदन किया, "हुजूर, ये तोते जङ्गलों के रहनेवाले हैं। आकाश के डकैत हैं; लेकिन इसी लिए इनका सुख-दुख, गाना-रोना सब आज़ादी के ही आसरे है। यहाँ इन्हें उसकी झलक भी नहीं मिलती। आप इनके रहने के लिए ऐसी जगह बनवाइए जहाँ सामने दीवार न हो, आगे खुला नज़ारा हो, सूर्योदय भी देख सकें और सूर्यास्त भी; उस आज़ादी से इनका नाता न टूटे जो इनका जीवन है।" राजा साहब को बात जँची तो नहीं, लेकिन तोते सुन्दर थे, और चार सौ रुपये में ख़रीदे गये थे, इसलिए सौदागर के कहे अनुसार इमारत खड़ी कर दी गई। जब तोते उसमें रख दिये गये, तब एक दिन राजा साहब उस सौदागर को लेकर सबेरे-सबेरे देखने आये। रास्ते में राजा साहब कहते आये कि सिर्फ़ रहने की जगह तैयार करने में हज़ार से अधिक रुपया ख़र्च हो गया है···ख़ैर। उन्होंने पहुँचकर देखा, सूर्य की पहली किरण के पड़ते ही तोते सजग हो उठे हैं, आगे की ओर लटककर, गर्दन झुकाकर, अपनी गोल गोल स्थिर आँखों से पूर्व की लाली को मानो व्याकुल उत्कण्ठा से पी रहे हैं, उससे कुछ स्फूर्ति पा रहे हैं, जिससे उनके डैने फड़फड़ा तो नहीं, ज़रा-से उठ-उठकर काँप रहे हैं, सारा बदन काँप रहा है; एकाएक वे भरे हुए स्वर से, भरे हुए दिल से चीत्कार कर उठे—कुछ मिनटों के लिए कोलाहल-सा मच गया···फिर सूर्य पूरा निकल आया और तोते धीरे-धीरे चुप हो गये, केवल कभी-कभी कोई एक मानो भूली-सी याद को लेकर पुकार उठता, "टीं!"

'राजा साहब ख़ुश होकर बोले—"बोलते तो हैं।"'

'सौदागर ने बाछें कुछ खिलाकर कहा—"राजा साहब, मेरे तोतों की एक-एक आवाज़ हज़ार रुपये की है।"'

तनिक चुप रहकर गाइड फिर बोला—'इस हिसाब से ये तोते अब तक करोड़ों रुपये कमा चुके हैं!'

मैंने कहा—'तरकीब तो अच्छी रही—'

'अच्छी? अजीब साहब, गजब की रही तरकीब! आप देखें, यह कहाँ-कहाँ लागू नहीं होती? आप दिन-भर कालेज में लेक्चर झाड़ते हैं, सो क्या आपका धर्म है? आपको भी दूर कहीं पर दीखता है—पेन्शन, एक अपना घर, बगिया में धनिया-पुदीना की अपनी खेती, वग़ैरह-वग़ैरह; इसी आसरे तो—'

मैंने कहा—'रहने दो अपना दर्शन। हमें चिड़ियाघर देखना है।'

उसने ज़रा भी अप्रतिभ हुए बग़ैर कहा—'यह चिड़ियाघर नहीं तो और क्या है। और आप उनसे पूछकर देखें'—उसने रमा की ओर इशारा

किया—'ये रोटी पकाती हैं, घर सँभालती हैं, शायद हारमोनियम बजाती हैं, सो सब किस लिए ? इनके हृदय में भी कोई स्वप्न है या—'

रमा ने अनावश्यक क्रोध से भभककर कहा—'चुप रहो तुम !' लेकिन मैंने देखा, उसकी आँखों में कुछ घना-सा घिर आया है, जिसे मैं नहीं समझता।

शेर

रमा की फटकार का शायद उस पर कुछ असर हुआ। तभी जब हम शेर के कठघरे पर पहुँचे, तब उसने धीरे से कहा—'वह देखिए', और कठघरे के सीखचे से लगे हुए एक बोर्ड की ओर हमारा ध्यान खींचा।

हमने पढ़ा, 'यह शेर—के राजा साहब ने चिड़ियाघर के लिए भेंट किया था। गुजरात के जंगलों में यह राजा साहब के पुरुषार्थ से ही पकड़ा गया था।'

हमने शेर को देख लिया—वह रेत में गड्ढा-सा खोदकर, उसमें बसी हुई नमी की शीतलता पकड़ने के लिए उससे ठोड़ी सटाये हाँफ रहा था, उसकी अधखुली आँखें करुणा से हम लोगों की ओर देख रही थीं, मानो कह रही थीं, मैं भी क़ैद में हूँ, नहीं तो तुम लोग हो क्या चीज़...और देखकर हम लोग आगे बढ़ने लगे।

गाइड ने कहा—'राजा साहब के पुरुषार्थ की कहानी है, शायद आपको दिलचस्पी हो।' उसका स्वर ऐसा निरीह था, मानो जोड़ रहा हो, 'स्वयं मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है।' हम कहानी को ललच गये। मैंने कहा—'कहो।'

'राजा साहब के यहाँ अक्सर विदेशी शिकारी आते रहते हैं, और विदेशी होने के नाते यह ज़रूरी हो जाता है कि राजा साहब उनके ओहदे के मुताबिक एक या दो शेर मरवायें। इसलिए अब शेर बहुत थोड़े हो गये हैं। लेकिन दशहरे के दिनों राजा साहब का एक शेर मारना ज़रूरी होता है, क्योंकि परम्परा चली आई है। उसी की कच्ची खाल पर खड़े होकर राजा साहब दरबार से मुजरा लेते हैं। तो उस बार भी तैयारी हुई, मचान बँधे, और शिकारपार्टी चली। लेकिन बहुत खोजने और हो-हल्ला करने पर भी शेर नहीं मिला। केवल एक बुड्ढे ने यह खबर दी कि जंगल में एक ताल के पास शेरनी ने बच्चे दिये हैं, और उनके साथ माँद में पड़ी रहती है। तब नया मचान बँधा, नये सिरे से शोर मचाया गया कि शेरनी बाहर निकले। लेकिन वह नहीं निकली। आखिर राजा साहब ने अपने दो नौजवान शिकारियों को हुक्म दिया कि वे माँद के पास जायँ और शेरनी को भड़कायें। उन्हें आत्म-रक्षा के लिए बन्दूकें दे दी गईं, और कड़ा हुक्म दिया गया कि शेरनी पर

फ़ायर न करें, उसे राजा साहब के लिए ही आने दें। वे माँद के पास गये और कुछ दूर से उन्होंने बड़ा-सा पत्थर माँद की ओर लुढ़काया। शेरनी तड़पकर बाहर निकली, तब शिकारी भागे। एक तो निकल गया, लेकिन दूसरे पर शेरनी का पंजा पड़ा, और वह गिर गया। बन्दूक अभी उसके हाथ में थी, और शायद वह गोली चला भी सकता, लेकिन राजा साहब की आज्ञा नहीं थी! राजा साहब ने तीन-चार फ़ायर किये, शेरनी मर गई। घायल शिकारी को उठा ले गये, राजा साहब ने अपने निजी डाक्टर से उसका इलाज कराया, लेकिन वह सातवें दिन मर गया।'

मैंने कहा—'लेकिन यह शेर—इसकी तो बात ही नहीं हुई—'

'हाँ, शेरनी के दोनों बच्चे पकड़ लिये गये। राजा साहब ने ख़ुद माँद में घुसकर पकड़वाये। उनमें से एक यह शेर है जो आप देखते हैं।'

ऊदबिलाव

'यह ठण्डे देशों का जानवर है, इससे यहाँ की गर्मी सही नहीं जाती, इसी लिए पहले इसके लिए ख़ास तौर से कुएँ का ठण्डा पानी लाया जाता था, लेकिन अब वह बन्द कर दिया गया है। तभी देखिए, वह पानी के बाहर बैठकर हाँफ रहा है, शायद हवा के झोंके से बदन कुछ ठण्डा हो।'

'मैंने कहा—'उसके पैर में क्या हुआ है?' पैर से रक्त-सा बह रहा था।

रमा बोली—'यही है न जो हौज में से पैसे निकाल लाता है?'

गाइड ने कहा—'हाँ, आप दोनों के प्रश्नों का एक ही उत्तर है, मैं अभी कहता हूँ। ठहरिए, पैसा मत डालिए—'

रमा रुक गई। गाइड कहने लगा—'जबसे यह यहाँ आया, तभी से यह पैसा निकालनेवाला खेल शुरू हो गया। ऊदबिलाव तो पानी का जानवर है, मच्छी-मेंढक खाता है; लेकिन यहाँ उसे छीछड़े दिये जाते थे, और उन्हीं के पीछे वह पानी में भागता था। लोग पैसे फेंकते तो खाद्य समझकर वह उन पर भी झपटता, लेकिन निराश होकर उन्हें किनारे पर ला रखता, तब लोग अपने पैसे उठा लेते। इसी तरह वह सध भी गया। पिछले साल गर्मियों में कुछ लोग देखने आये। तब भी यह ऐसे ही गर्मी से घबराया हुआ पड़ा था, जैसा अब है—तब ठण्डे पानी का इन्तज़ाम नया-नया बन्द हुआ था। देखनेवालों में एक लड़के ने चवन्नी फेंकी, वह काँपती हुई डूब गई। ऊदबिलाव ने उधर देखा नहीं, न अपनी जगह से हिला। लड़का रोने लगा। बाप ने पूछा, क्या है? चवन्नी की बात सुनकर उसे भी फ़िक्र हुई, और वह अपनी छड़ी से ऊदबिलाव को उठाने लगा। थोड़ी देर तो ऊद-

बिलाव ने इसकी उपेक्षा की, लेकिन जब उसने देखा कि उपेक्षा से छुटकारा नहीं मिलता है, तब क्रुद्ध होकर फुफकारने और दाँत दिखाने लगा। लड़के के पिता तो हताश हो रहे थे, पर चचा भी साथ थे ; वे बम्बई की एक मिल के मैनेजर थे और काम निकालना जानते थे। बोले—"मैं देखता हूँ, कैसे नहीं लाता।" उन्होंने जेब से चाकू निकालकर छड़ी के आगे बाँधा और उसे ऊदबिलाव के चुभाने लगे। ऊदबिलाव झपटा, तो चाकू उसके पैर में लगा, उसने और भी क्रोधान्ध होकर वार किया, तब एक आँख में भी चाकू लगा। तब उसने पराजित होकर डुबकी लगाई और चवन्नी बाहर ला रखी। तभी से पैर का जख्म ठीक नहीं होता है—जब कभी वह पानी में जाता है, तो ख़ून की एक लकीर खिंच जाती है। और आँख का जख्म तो गन्दा हो गया था, उससे आँख ही नष्ट हो गई। आप जानते हैं कि गर्म देशों में जख्म कितनी जल्दी ख़राब होता है—'

मैंने कहा—'आँख गई बेचारे की ? किसी ने—'

'जी हाँ, आप उसे जगायें, तो दीख जायगी; अभी दीखती नहीं है न !'

रमा ने इकन्नी निकाली थी, वह वापस पर्स में डाल ली, और चुपकी-सी खड़ी रही। गाइड बोला—'नहीं, आप इकन्नी की फिक्र न करें, वह ले आयेगा। उजड्ड से उजड्ड आदमी भी सबक सीखकर सीधा हो जाता है, यह तो बेचारा बेबस जानवर है। यही वे मिल-मैनेजर कहते थे।'

मैं जानता था कि रमा ने इकन्नी क्यों वापस रख ली, लेकिन गाइड के गलत समझने से मुझे क्रोध नहीं हुआ। रमा मुझे चिड़ियाघर घसीटकर लाई है, चखे मज़ा ! अब कभी आने का नाम नहीं लेगी !

बाघ के बच्चे

हमने बोर्ड की ओर देखकर पढ़ा—'पुत्र के जन्म की ख़ुशी में नवाब — की ओर से दान।'

रमा ने कहा—'कैसे सुन्दर बच्चे हैं ! खेलने को जी चाहता है।'

गाइड ने कहा—'बच्चे कैसे इतने सुन्दर होते हैं, यही एक ताज्जुब की बात है। शायद पीड़ा से जो चीज़ पैदा होती है, वह सुन्दर ही होती है, नहीं—' तो एकाएक मेरी ओर देखकर वह रुक गया और बोला—'अच्छा लीजिए, नहीं कहता। आप मालूम होता है, दर्शन-शास्त्र के प्रोफ़ेसर हैं, तभी दर्शन से चिढ़ते हैं। ख़ैर, मैं अपना काम करूँ, कहानी ही कहूँ। सुनिए ! जिस रात नवाबजादे का जन्म हुआ, उस रात नवाब साहब ने भारी उत्सव किया। शराब में मस्त होकर जब वे बैठने के नाकाबिल हो गये, तब भीतर महलों

की ओर चले। शयनागार के बाहर एक बाँदी खड़ी थी, उससे उन्होंने कुछ भद्दा मज़ाक किया। वह बोली कुछ नहीं, बोलना ज़रूरी नहीं था; लेकिन उसने वह मुस्कान भी अदा नहीं की, जो पाने का हक नवाब के मज़ाक को है। नवाब साहब बिगड़ उठे और बाँदी को भीतर खींच ले गये, वहाँ उससे छेड़छाड़ करने लगे। उसने बहुत अनुनय-विनय की लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। वह गर्भवती थी, और अन्त में उसने अपने अजात बच्चे के नाम पर नवाब से दया माँगी। लेकिन नवाब आपे में नहीं थे, उन्होंने उसके पेट में लात मारी। बाँदी लड़खड़ाकर बैठ गई, पीड़ा और एक असह्य आशंका से उसका चेहरा स्याह पड़ गया, तब उसने फुफकार मारकर कहा—"नवाब साहब, याद रखिए, मा बाघिन होती है!" नवाब साहब ने अट्टहास करके कहा—"नवाब क्या बाघिन से डरता है?" पर बाँदी को बाहर निकलवा दिया। अगले दिन जब बाँदी क्षमा न माँगने पर जेल भेजी गई तब नवाब साहब को सूझा कि गाभिन बाघिन का शिकार करना चाहिए। शिकार का प्रबन्ध हुआ, और एक बाघिन मारी गई। गोली लगने पर जब वह छटपटाने लगी तब इन तीन बच्चों का प्रसव हुआ! असमय पैदा होने से ही, देखिए, इनकी खाल कितनी मुलायम और सुन्दर है! तभी मैं कहता हूँ, पीड़ा सौन्दर्य की मा है—'

रमा ने टोंककर पूछा—'और बाँदी का क्या हुआ? उसका बच्चा—'

गाइड हँस दिया। बोला—'मुझे मालूम नहीं। मालूम हो भी क्यों? मैंने आपसे पहले ही कहा न, मैं इस चिड़ियाघर की आत्मा हूँ, दुनिया की आत्मा नहीं हूँ। मेरी कहानी इसी की कहानी है। अगर दुनिया भी एक चिड़ियाघर है, तो उसकी कहानी के लिए आप—'

लेकिन मेरी सहनशीलता की इति हो चुकी थी। मैं रमा को खींचता हुआ एक ओर को निकल चला। मुझे बाहर की राह मालूम नहीं थी, लेकिन एक ओर फाटक देखकर उधर ही मैं लपका।

चिड़ियाघर का साहब

फाटक के पास मैं ठिठक गया। उस पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा था, 'सावधान! बिना लिखित इजाज़त के भीतर मत जाओ!'

मैं कहने को था, अब क्या करें? कि मैंने देखा, गाइड पास खड़ा मुसकरा रहा है।

मैंने अपना क्रोध दबाकर पूछा—'यहाँ कौन-सा जानवर रहता है?'

'यह चिड़ियाघर के साहब का बँगला है!'

'ऐं ?'

'इनकी भी कहानी कह दूँ ?' कहकर बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये चिड़ियाघर की आत्मा बोली—साहब हमारे राजा के चचेरे भाई की सन्तान हैं—एक वेश्या से। यह कहानी बहुत कम लोग जानते हैं, क्योंकि वह वेश्या बहुत देर तक कुँवर साहब की चहेती रही और वे उसके लड़के को कुमार की तरह पालते रहे। उसे भी अपनी मा का पता नहीं लगा। एक बार राजकुमार-कालेज में उसकी किसी दूसरे कुमार से लड़ाई हो गई, और उसने उसे वेश्यापुत्र कह दिया। जब पूछने पर सच्चाई का पता चला, तब वह दुःख और ग्लानि से पागल हो गया। जब पागलपन कुछ ठीक हुआ, तब उसने कालेज जाने से इन्कार किया और यहीं रहने लगा। अब भी उसका पागलपन मिटा नहीं, लेकिन अब यह हालत हुई है कि जब कोई उसका नाम लेकर या कुँवर साहब कहकर बुलाता, तब उसे दौरा हो जाता और वह हत्या करने को तैयार हो जाता! अजनबी भी यदि उसका नाम पूछ बैठते या कोई और बात करते, जिससे उसका ध्यान अपने मा-बाप की ओर जाये तब भी यही हालत होती; अन्यथा वह बहुत ठीक रहता। जानवरों में उसे विशेष दिलचस्पी थी। इसलिए राजा साहब ने उसे यहाँ नियुक्त करके इस बँगले में रख दिया और बाहर यह बोर्ड लगवा दिया कि कोई भूलकर भी उधर न चला जाय।'

थोड़ी देर मौन रहा। फिर गाइड ही ने कहा—'मालूम होता है, आप और नहीं देखना चाहते ?' मेरे उत्तर देने से पहले ही वह रमा की ओर देखकर बोला—'मैंने पहले ही कहा था, आपको दुबारा देखने की जरूरत नहीं पड़ेगी।'

और मैंने फिर देखा, उसकी मुस्कराहट में एक तीखा व्यंग्य है। मैंने रमा से कहा—'देख लिया ? अब चलो बाहर!'

हम चले। रमा कुछ बोली नहीं, तब मेरा सारा क्रोध उसी पर फूटना चाहने लगा। मैंने व्यंग्य से पूछा—'कैसी रही सैर चिड़ियाघर की ?'

उसने मेरा ग़ुस्सा पढ़कर, मानो—ज्वाला में घी छोड़ने के लिए शान्त भाव से कहा—'अजीब थी—'

'अजीब कहती हो तुम—अजीब! ऐसा सड़ा, गन्दा, वीभत्स, डिसगस्टिंग दिन मैंने कभी नहीं बिताया! अब कभी चिड़ियाघर आऊँ, तो मेरा नाम—'

'कैसे नहीं आओगे तुम चिड़ियाघर में!'

अपने बिल्कुल पास क्रोध से जलता हुआ यह ग़र्जन सुनकर मैं सहम

गया। चिड़ियाघर की आत्मा वह गाइड मेरे बिल्कुल पास खड़ा मेरी ओर देख रहा था। उसके विस्फारित नेत्रों से आग बरस रही थी, बदन गुस्से से काँप रहा था। 'कैसे नहीं आओगे तुम चिड़ियाघर में ? जाओगे कहाँ तुम ? वहाँ बाहर ? वहाँ एक बहुत बड़ा चिड़ियाघर है जिसमें तुम बन्द हो, तुम !'

वह एकाएक इतना पास आ गया कि उसकी गर्म साँस मेरे गले पर पड़ने लगी और लंबी दाढ़ी के बाल मुझे चुभ गये। मैंने एकाएक घबड़ाकर रमा को खींचते हुए कहा—'रमा, चलो, बाहर चलो...'

× × ×

मैं काँपता हुआ जागा, तो पाया कि मेरा झबरा कुत्ता टिम मेरे कन्धे पर अपनी थूथनी रगड़कर मुझे जगाना चाहता है और उसके पीछे रमा वही पीली साड़ी पहने हुए प्यार भरे स्वर में कह रही है, 'पोस्तीजी, चलना नहीं बाहर ?' मैं अपने को सँभालने की कोशिश करते-करते बोला—'चलो। लेकिन कहाँ ?'

उसने और भी आकर्षक मुसकान अपने चेहरे पर जाल की तरह बिखेर-कर कहा—'क्यों, चिड़ियाघर नहीं ले चलोगे ?'

मैं डूबते हुए स्वर में किसी तरह कह पाया—'चलो...'

पुरुष का भाग्य

जनवरी १९४०

मानव की मानव के प्रति जागरूकता आज के इस ज़माने में एक मशीन की आड़ में प्रकट होती है—या तो वह मोटर के स्टीयरिंग पर बैठा राहियों को बचाकर चलने में चौकन्ना है, या वह स्वयं राही है और मोटर के स्टीयरिंग पर बैठे हुए अनेक मानवों से बचकर चलने में चौकन्ना है। बचने और बचाने का ही रिश्ता जब मानव-मानव में हो, तब इसकी संभावना कम है कि उस अकेली चलती हुई औरत की विचित्र क्रिया पर किसी का भी ध्यान गया हो—फिर चाहे कोल्हू के बैल-से आज के मानव के जीवन में वह क्रिया कितना ही गहरा अभिप्राय रखती हो...

मानिकतल्ले की सड़क पर, कालेज स्क्वेयर से कुछ आगे, काली के मंदिर के पास ही पटरी पर वह चली जा रही थी। मंदिर में अर्चा में बहाये हुए, या प्रार्थिनी विधवाओं के गीले कपड़ों से बहे हुए, पानी से वह पटरी कुछ दूर तक पैरों-जूतों के पिच-पिच उपहारों से क्लांत और बोझल, फिर क्रमशः सूखी होती चली गई थी।

इसी स्थल पर चलती हुई वह औरत एकाएक अकचकाकर रुकी, हड़बड़ाई-सी पैर बचाकर एक ओर को हटी और फिर सिमटकर बचती हुई-सी आगे बढ़ी, दो क़दम चलकर रुकी और फिर धीरे-धीरे, काँपती-सी आगे चली गई...

कोई भी इस क्रिया को देखता तो अनुमान करता कि बहुत देर से व्रतादि करनेवाली किसी जीवन-विक्षत, धर्मप्राण हिंदू स्त्री के अनुष्ठान से लौटते समय पैर के नीचे अचानक किसी जीव—जीव भी सख़्त त्वचावाला नहीं, पिलपिला और चेंपदार, जिससे छूकर तलवे का संवेदनशील मध्य

भाग तड़प जाय, जैसे मेढक या केंचुआ—के आ जाने से जो प्रतिक्रिया होती, वही प्रतिक्रिया यहाँ भी देखी है।

लेकिन पटरी पर तो कोई जीव नहीं था, किसी भूतपूर्व जीव की लोथ भी नहीं।

केवल सूखी हुई धूल के ऊपर दो गीले पैरों की छाप वहाँ पर थी—पास-पास, छोटे-छोटे। इन्हीं बाल-पद्‌चिह्नों पर पैर पड़ने से वह इतनी आकुलता से बची थी—उसका सारा पिंजर काँप गया था और वह जैसे गिरने लगी थी, फिर सँभलकर आगे बढ़ी थी।

वह ऐसे था, जैसे घोर कारागार में एकाएक कोई फाटक खुल गया हो...

(१)

पाँच कदम लंबाई की उस कोठरी के भीतर भ्रांत गति से आगे-पीछे घूमती हुई प्रतिमा एकाएक रुक गई। क्या आगे-पीछे ही जीवन-क्रम है? वह बंदिनी है, लेकिन इस परिपाटी के खिलाफ विद्रोह करना चाहती है। क्यों जीवन में या आगे ही बढ़ना या पीछे ही हटना? क्यों पाँच क़दम आगे और पाँच क़दम वापस? वह आगे-पीछे का क्रम छोड़कर कोठरी के चारों ओर चक्कर काटने लगी—बीच में चक्की, खड्डी, खुड्डी, पतरा कई विघ्न थे, लेकिन सीधी की बजाय मंडलाकार चाल चलने से उसे कुछ संतोष हुआ। यह गोल-गोल घूमना भी कोल्हू के बैल की तरह है, पर संतोष शायद इस-लिए मिलता है कि वह केवल घिरी हुई नहीं है, कुछ है जो उसकी भी मुट्ठी में है; कुछ जो उसकी देन है, जो उसके अंतरतम से प्रसूत होकर बाहर की ओर, संसार की ओर उन्मुख है, कुछ जो—

प्रतिमा को लगता है, वह बद्ध रहेगी, जेल ही में रहेगी, पर जैसे किसी अव्यक्त, दिव्य निमित्त से कहीं को एक फाटक उसके लिए खुल गया है...

(२)

आत्म-प्रवंचना! कौन-सा, किधर का, कहाँ को है वह फाटक जो खुला है?

जेल के इन पिछले चार वर्षों में प्रतिमा के जीवन-मन्दिर में कई फाटक खुले और बन्द हुए हैं। कभी कहीं फाटक न होने से सेंध लगाकर ही काल-तस्कर घुस आया है और न जाने किधर को निकल गया है। प्रतिमा का पति किसी षड्‌यंत्र के मुकदमे में फाँसी लटक गया; वह स्वयं एक ऐसे ही अपराध में, स्कूल में अध्यापन करती हुई, क्लास में से पकड़कर जेल में डाल दी गई है और वहीं, सात वर्ष की कारावास की सज़ा की घोषणा

होते-होते तक स्त्री से माता हो गई है। वरे हुए पुरुष का खोना और जने हुए पुरुष का पाना इतना पास-पास हुआ है कि वह उद्भ्रांत-सी हो गई है, लेकिन खुलने और बंद होनेवाले इन फाटकों की भूलभुलैया में उसने अपना अभिमान नहीं खोया है। लोगों ने उसे विश्वास दिलाया था कि माता होने पर वह छूट जायगी, उसने तिरस्कार-पूर्वक इस विश्वास को निकाल फेंका था। छोड़ी वह नहीं गई, और विश्वास व्यर्थ गया, लेकिन उसने तिरस्कार किया था, तो निराशा होने के डर से नहीं, एक सहज दर्प से, जो किसी की दया से छूटना नहीं चाहता था।

और न जाने किस दिव्य या दैव-क्रिया से, प्रतिमा को अकेलापन नहीं अखरा था, न जाने कैसे वरे हुए पुरुष के अन्तर्धान होने की खलिश इस जने हुए पुरुष ने धीरे-धीरे पूर दी थी...वह पुरुष अभी शिशु था, उसकी चाल अटपटी और वाणी तुतली थी, पर प्रतिमा को ऐसा लगता था कि वह भाग्य के फाटक की ओर समर्थ पैरों से बढ़ रहा है, कि उसके स्पर्श से फाटक खुल जायगा, कि उसके पीछे खड़ी होकर प्रतिमा भी देखेगी कि वह भाग्य शिशु का नहीं, पुरुष का है...

(३)

कब की बात है? कैसे उसे याद आती है? याद नहीं आनी चाहिए, क्योंकि आज उसका सारा जीवन एक ही अनुभूति में केन्द्रित है, और वह अनुभूति शिशु-पुरुष की समीपता की नहीं है, वह दूसरी अनुभूति है; ओफ़ कितनी दूसरी!

क्योंकि वह शिशु-पुरुष आज उसके साथ नहीं है। एक दिन जेलवालों ने कहा था, बालक अब बड़ा हो गया है, अब तुम्हारे साथ नहीं रह सकता। तुम्हारे संबन्धी हैं? तब उसने अभिमान से कह दिया था, मेरा कोई नहीं है। यह मेरे पास रहेगा। और एक बार जगाकर इस अभिमान को छोड़ना कठिन हो गया था—फाटक कई हैं, लेकिन आलोक अभिमान का है। उस दिन वे चले गये थे, पर पीछे प्रतिमा को पता लग गया था कि उसका भाग्य उसके साथ नहीं है, कि जिस शिशु को जेलवालों ने पुरुष मान लिया है, उसका मार्ग अलग होगा ही। और एक दिन वे आकर उसे ले गये थे—कह गये थे कि वे उसे अनाथाश्रम में रखने का प्रबंध कर रहे हैं...जेल के फाटक के बाहर—पर अनाथाश्रम का फाटक...

(४)

एक दिन ले गये थे? आज है वह दिन—अभी वे उसे ले गये हैं। अभी

जब मैं यह चक्कर काटने लगी हूँ। अभी! पुरुष को पाना, पुरुष को खो देना—क्या वह आगे-पीछे की गति ही जीवन की गति है? मैं इसे अस्वीकार करती हूँ। मैं कोठरी का चक्कर काटती हूँ, मैं पृथ्वी का एक अंश घेरती हूँ, जीवन का एक अंश है, जो मेरी मुट्ठी में है; जो मुझसे प्रसूत होकर संसारोन्मुख है, जो—

इस समय वह जेल के दफ़्तर में होगा। कुछ लिखा-पढ़ी हो रही होगी, कुछ काग़ज़ी कार्रवाई, उसके बाद वह वहाँ से भी आगे चलेगा, वह फाटक उसके लिए खुलेगा और वह उतनी सब सीढ़ियाँ उतरकर आगे बढ़ेगा—कि फाटक अब तक खुल ही चुका है?

—मैं अपनी कोठरी में आगे पीछे नहीं, चक्कर काटती हुई चल रही हूँ; यह भी कोल्हू के बैल की तरह है, पर उसकी मारफ़त मुझे लगता है, जैसे कहीं को एक फाटक मेरे लिए खुल गया है; मेरे लिए किसी, अव्यक्त दिव्य निमित्त से, पर उसी की मारफ़त, उसी पुरुष मो मारफ़त, जिसका भाग्य मैंने गढ़ा है...

× × ×

दफ़्तर में।

क्या बच्चे को पता है कि वह अब पुरुष है, कि वह मा से छिन नहीं रहा, पुरुषत्व को प्राप्त कर रहा है, पुरुष के भाग्य की ओर जा रहा है? क्योंकि वह रो नहीं रहा है, एक अपरिचित, अस्पष्ट-सा अभिमान उसके भीतर भर रहा है कि इन अनेक छोटे-बड़े अफ़सरों के बीच वह एक बच्चे की तरह नहीं, उनके परामर्शों का केंद्र बनकर खड़ा है...तभी तो, जब जेल का सुपरिंटेंडेंट उसे बाहर भेजने की कार्रवाई समाप्त करके चलने को हुआ, ड्योढ़ी से निकलकर फाटक तक आया, कई साँकलों और कुंडों की खड़खड़-झनझन के साथ फाटक खुला, तब सुपरिंटेंडेंट को पहुँचाने आये हुए छोटे अफ़सरों के साथ वह भी आगे बढ़ता गया। उस समय कोई विशेष आह्लाद उसके मन में नहीं था, केवल वह कुछ-कुछ चेतता हुआ अभिमान—बढ़कर साहब के बराबर को हो लिया, किसी ने उसे रोका नहीं (क्या इसलिए नहीं कि वह बच्चा है? नहीं, उसके नये अभिमान ने कहा- नहीं, इसलिए कि वह पुरुष है!), वह और आगे बढ़ा—

चौदह सीढ़ियाँ और फिर रास्ता और उसके ऊपर आकाश को चीरता हुआ एक आरक्त-कंठ तोता—आह, यहाँ नहीं हैं सीखचे, नहीं हैं फाटक—है एक आकुल निमंत्रण—

स्वातन्त्र्य—पुरुष का भाग्य...

उसका पैर फिसल गया। जैसे अनन्त का फाटक खुला और बन्द हो गया। दृश्य को घेरनेवाली आँखें फिर अपनी ज्योति में घिर गईं।

× × ×

(५)

चक्कर काटती हुई प्रतिमा क्षण भर रुक गई, न जाने क्यों। फिर वह घेरा छोड़कर पहले की तरह चलने लगी। क्या आगे और पीछे ही जीवन-क्रम है? वह विद्रोह करना चाहती है। पुरुष को पाना और पुरुष को खोना, आगे और पीछे, पीछे और आगे—काले सीखचों से अंधी दीवार तक, अंधी दीवार से काले सीखचों तक, जिसके आगे दूसरी दीवार के सीखचे, जिसके आगे—

क्या है, क्या है, मेरे पुत्र का भवितव्य, मेरे वरे हुए नहीं, जने हुए पुरुष का भाग्य?

क्रमशः वह जान जायगी।

× × ×

काली के मन्दिर के पास की पटरी पर वह औरत लड़खड़ाकर फिर सँभल गई है और आगे चल पड़ी है। कोई फाटक खुला नहीं है, आगे सीखचे हैं।

परम्परा : एक कहानी

सितम्बर १९३९

खेलावन गली के मोड़ की ओर बेतहाशा भागा जा रहा था। उसके भागने का कोई कारण नहीं था ; बात यह थी कि पहली सन्तान के होने की ख़ुशी से वह फूला नहीं समा रहा था और उसे जान पड़ता था कि गली में वह घुटा जा रहा है। भागकर बड़ी सड़क पर निकलेगा तभी बचेगा। मोड़ के आगेवाली बड़ी सड़क पर, जो किसी दानव की शय्या की तरह उस बड़े शहर के आरपार बिछी हुई है, चिकनी, तपी हुई, चमाचम, खचाखच...

ख़ुशी से जैसे उसकी आँखें चढ़ी हुई थीं। वह बिना देखे-सुने सड़क की ओर बढ़ा जा रहा था···

उसे सड़क के इस किनारे चलना है, या उस किनारे, अथवा सड़क पार करनी है, इसका कोई ज्ञान नहीं था। मुख्य बात यह थी कि गली से सड़क पर जाना है, और बेतहाशा जाना है, और चलना नहीं, दौड़ना है!

किन्तु मोड़ के कुछ आगे ही बीच सड़क पर से गुज़रती हुई एक लारी उसके ऊपर से निकल गई। वह दानव की शय्या की चादर मानो लाल रंग के कलफ़ से ऐंठ गई।

सिपाही ने ड्राइवर को पकड़ लिया। डाइवर बहुत गिड़गिड़ाया, पर उसकी एक न चली। चलती भी कैसे! इतनी भीड़ तो वहाँ देख रही थी कि सिपाही क्या करता है? उसके पास और कोई चारा नहीं था, सिवाय इसके कि उसे थानेदार के आगे पेश करे।

पर थानेदार को कोई देखता नहीं था। ड्राइवर ने साहस बटोरकर थानेदार से एक सीधी-सी युक्तिपूर्वक बात कही, जो थानेदार को जँच गई। उसने ड्राइवर से और मोटर के मालिक से ग्यारह सौ रुपये रिश्वत लेकर उसे छुट्टी दे दी, इसलिए कि वह जाकर और लोगों को मारे और इस प्रकार थानेदारों को और आमदनी कराये! ड्राइवर छूट गया।

ग्यारह सौ रुपये बड़ी चीज़ होते हैं। थानेदार हिसाब लगाने बैठे तो उन्हें मालूम हुआ कि ग्यारह सौ में अपनी पिछले महीने में पी हुई शराब की कीमत देकर आगे के छः महीने के लिए भी बेहिसाब शराब पी सकते हैं। वे शराब की दूकान में गये, पुराना हिसाब चुकाकर उन्होंने ठेकेदार से

तय किया कि वे अब वहीं दुकान में रहेंगे और शराब पियेंगे—बचा हुआ साढ़े नौ सौ रुपया उन्होंने उसी के पास जमा करा दिया।

और उन्होंने अपनी बात भी सच्ची कर दिखाई। वे उसी दूकान में रहते रहे—तब तक, जब तक कि दो महीने के बाद वे वहीं आर्थ्राइटिस से बीमार होकर मर नहीं गये। साढ़े पाँच सौ की शराब तब तक वे और पी चुके थे।

ठेकेदार को शराब के मुनाफ़े के अलावा चार सौ रुपये घात में मिले तो उसे याद आया—उसकी कई इच्छाएँ हैं जो हाथ की तंगी के कारण उसने अपने आगे नहीं आने दीं। उसने जो कुछ सुन रखा था, उससे उसने अपने ठेकेदाराना दिमाग़ से हिसाब लगाया कि वह चार सौ रुपये में अधिक नहीं तो कम से कम अस्सी भली वेश्याओं के यहाँ जा सकता है—या एक ही वेश्या के यहाँ कम से कम सौ बार जा सकता है। क्योंकि धन है तो सामर्थ्य है। और सामर्थ्य बेकार नहीं बैठ सकती; उसे कारगर होना ही होगा।

किस वेश्या पर यह पूँजी लगाई जाय, यह निश्चय करते कुछ समय लगा। जब आख़िर निश्चय हुआ तब वह अपने रुपये के अतिरिक्त एक और चीज़ भी अपनी चहेती को दे आया।

अभी ठेकेदार के रुपये चुके नहीं थे कि वेश्या उससे पाये हुए रोग से बीमार होकर मर गई। ठेकेदार के बचे हुए रुपये वेश्या की लड़की माया ने मा की दवादारू के लिए माँगे थे। जब मा मर गई और ठेकेदार अपने रुपये नक़द या सेवा-द्वारा माँगने लगा, तब लड़की के मन की दुविधा मिट गई और वह रुपया-उपया लेकर एक गुण्डे के साथ भाग गई!

गुण्डे के लिए माया 'पहली प्राप्ति' नहीं थी, आख़िरी भी वह नहीं हुई। ऊबकर वह एक दिन उसे अकेली छोड़ गया। जब माया को अपनी दशा पर समझ आ गई, तब वह समाज के कबाड़ख़ाने—एक अनाथाश्रम—में दाख़िल हो गई। कबाड़ से उठने की कोशिश उसके लिए व्यर्थ है—यह सोचकर कुछ शान्ति से दिन बिताने की उम्मीद में उसने अपना भाग्य चुपचाप स्वीकार कर लिया।

गुण्डे के मन से उतरकर भी माया के पास अभी पर्याप्त रूप है, यह बात उसे समझाने की अनाथालय के मैनेजर ने पूरी कोशिश की। इसका सुबूत देने के लिए उसने उस रूप की क़ीमत भी लगाई, पर जब माया के निरीह उपेक्षा-भाव पर कोई असर नहीं हुआ, और इस बीच एक ऐसा व्यक्ति भी आ गया, जो माया के रूप की और अधिक क़ीमत लगा रहा था, तब मैनेजर ने माया को एक नये बने हुए सेठ के पास बेच दिया।

सेठ साहब को अपने बहुत जल्दी कमाये हुए अर्थ और बहुत देर से चेते हुए काम के लिए एक साझीदार की ज़रूरत थी। जब माया की मारफ़त दोनों उद्देश्य पूरे होने लगे, तब उसको सब चिन्ता भूल गई और वे दिलेर होकर सट्टा करने लगे। एक दिन उनका दीवाला निकल गया।

जब उन्होंने देखा कि अर्थ समाप्त हो जाने से माया—जिसका घना उपेक्षाभाव अभी मिटा नहीं था—अब काम की उपेक्षा करती है, तब एक दिन उन्होंने मार-पीटकर उसे निकाल दिया। लेकिन इससे कोई भी समस्या हल नहीं होती थी, इसलिए फेर लाये। फिर एक दिन निकाल दिया और फिर लौटा लाये। फिर आख़िर एक दिन जब माया बीमार हुई, तब उन्होंने समझ लिया कि जब दो उद्देश्य पूरे न हो सके तब अर्थ का ही ख़्याल कर लेना चाहिए; क्योंकि अर्थ हो तो काम भी पूरा हो सकता है; और माया जैसी 'रंडी की बेटियाँ' गुलाम बनाई जा सकती हैं। नतीजा यह हुआ कि बीमारी की हालत में माया फिर एक बार बिक गई।

उसे एक मारवाड़ी सेठ की कोठी के दरबान ने ख़रीद लिया था, जिसके सगे कोई नहीं थे और जिसकी भंग पीने की आदत के कारण उसकी शादी नहीं होती थी।

दरबान ने माया को अच्छी तरह रखा। अपने घर में वेश्या की लड़की और दूसरे घरों में वेश्या की तरह रहकर माया ने इस घर में कुछ नया वातावरण पाया, और दरबान की ममता के आगे वह पिघल गई। यहाँ तक कि जब झोंक में आकर दरबान उसे प्यार की बातें कहता, तब यह जानकर कि ये सब बड़ी-बड़ी बातें भंग के सहारे ही सूझती हैं, माया उसके गले का भारी रुद्राक्ष का दाना और पीतल का ताबीज़ पकड़कर इतना ही कहती, 'कितने बक्की हो तुम!'

तब एक दिन दरबान के घर उजाला फूटा; अभी दरबान हक्का-बक्का खड़ा ही था कि ऊपर से मालिक की आवाज़ आई और नीचे कराहती हुई माया ने कहा—'दाई बुला लाओ—'

और फिर एक नये जन्म की छाया में, एक दरबान रामभुज (या खेलावन या लालबहादुर या भरोसे या रामबहोरी) बेतहाशा भागा बाहर को गली की ओर, बड़ी सड़क की ओर, लारियों और मोटरों के गोरखधन्धे के बीच, उस चमाचम, खचाखच दानवी शय्या पर बिछने के लिए—

(२)

बड़ी सुन्दर कहानी है! यदि इसे एक-एक बात में रस लेकर, घटना के हर कौर को लज़ीज़ और चटपटा बनाकर कहा जाय; यदि उससे वासना

की मिठास या अतृप्त वासना की हल्की कसक जाग्रत हो, तो यह कहानी 'कला कला के लिए' का नमूना हो जायगी; यदि उसे तीखे आक्रोश के साथ, कुढ़न और क्रोध के साथ कहा जाय तो वह प्रगतिशील कला का प्रतीक बन जायगी। लेकिन जनता और जनार्दन का झगड़ा छोड़ दें, तो भी यह स्पष्ट है कि कहानी में जीवन की निर्व्याघात प्रवहमानता, मानवता की अटूट परम्परा, प्रतिबिम्बित होती है, इसलिए मानना पड़ेगा कि यह चाहे कैसे भी कही जाय, वह सच्ची कला है, महान् कहानी है।

लेकिन आपको यह पसन्द नहीं है। क्यों पसन्द नहीं है?

(क्योंकि इसमें जीवन के प्रति एक विद्रूप, तिरस्कार का भाव है। क्योंकि इसमें निष्ठा की, विश्वास की कमी है।)

कला से हम क्या चाहते हैं?

कला से हम माँगते हैं कि वह हमारी परिस्थिति का भार हलका करे, यानी हमारी तारीफ़ करे, हम पर तरस खाये, हमसे सहानुभूति दिखाये— जैसे भी हो, हमारा अपने में विश्वास बनाये रखे और हमारे अहं की पुष्टि करे।

और जो कहानी मैंने कही है, उसमें आपको ये गुण नहीं मिलते। आपको लगता है, आपको धोखा दिया गया है, अपमानित किया गया है, ओछा दिखाया गया है! आप तिरस्कृत अनुभव करते हैं, आपमें ग्लानि उत्पन्न होती है; क्योंकि आप विश्वास माँगते हैं; आप निष्ठा माँगते हैं; आप नहीं चाहते कि आप पर कोई हँसे; आपकी अवज्ञा करे; आपको उपहास का पात्र बनाये!

किन्तु क्या मेरी कहानी में सचमुच विश्वास और निष्ठा की कमी है? क्या उसका व्यंग्य एक बन्द गली में जाकर समाप्त होनेवाला वह करुण विश्वास ही नहीं है जो प्रत्येक मानव में, समूची मानवता की आत्मा में समाया है और जो मेरी कहानी को उसकी epic quality देता है—इतनी विराट् और इतनी कटु! मेरी कहानी का सड़क का मोड़ आपकी समूची सभ्यता का चित्र है—पहली सन्तान के होने की ख़ुशी में फूली न समाती हुई वह मदहोश बाहर होकर को भागी जा रही है, एक नृशंस दानवी यंत्र के नीचे बजरी से लदी हुई एक निष्प्राण मशीन के नीचे कुचली जाने के लिए!

मेरी कहानी में आपको विश्वास नहीं दीखता, तो मैं क्या करूँ? जब कि वह आपके विश्वास की ट्रेजेडी की कहानी है, आपको लगता है जैसे आपके पेट में किसी ने लात मार दी हो, तो मैं क्या करूँ जब कि लात आपकी है!